हिन्दी गद्य-मंजूषा

संपादक
मुंशीराम शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०
सिद्धिनाथ मिश्र एम० ए०
दयानन्द कालेज, कानपुर

For Consideration as Hindi Prose text book in Paper II Intermediate Banaras Hindu University

विषय-सूची

(४८)

हिन्दी गद्य का विकास ५
१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न १७
२. बालकृष्ण भट्ट—पर चित्तानुरंजन २५
३. प्रतापनारायण मिश्र—पंच परमेश्वर ३१
४. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—न्याय-घंटा ३७
५. महावीरप्रसाद द्विवेदी—कवि शिक्षा ४३
६. बालमुकुन्द गुप्त—शिवशंभु का चिट्ठा ५१
७. रामचन्द्र शुक्ल—भय ५७
८. प्रेमचंद—जीवन में साहित्य का स्थान ६५
९. गुलाबराय—उपन्यासों के अध्ययन से हानि लाभ ७६
१०. माखनलाल चतुर्वेदी—साहित्य देवता ८२
११. वियोगी हरि—साहित्य माधुरी ८८
१२. सियारामशरण गुप्त—रामलीला ९३
१३. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—प्राचीन और नवीन १०१
१४. वासुदेवशरण अग्रवाल—विक्रम संवत्सर का अभिनन्दन ११४
१५. जैनेन्द्र कुमार—नयी व्यवस्था १२१
१६. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी का भक्ति साहित्य १२९
१७. शांतिप्रिय द्विवेदी—कला में जीवन की अभिव्यक्ति १३९
१८. महादेवी वर्मा—युद्ध और नारी १५२
१९. 'अज्ञेय'—पुराण और संस्कृति १५९
२०. मुंशीराम शर्मा—भक्ति-भावना और सूरदास १६६
टिप्पणी १७७

हिन्दी गद्य का विकास

एफ़ ई की, एडविन ग्रीब्ज तथा 'मिश्रबन्धु' आदि द्वारा रचित ग्रन्थों की सामग्री के आधार पर लिखी गई 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात' नाम की एक उपयोगी पुस्तक में हिन्दी गद्य के उद्गम के संबंध में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है:—

"महाराज पृथ्वीराज और रावल समरसिंह के १३ वीं शताब्दीवाले दानपत्रों में प्राचीन हिन्दी का नमूना स्पष्ट रीति से उपलब्ध हो जाता है। १५ वीं शताब्दी में बाबा गोरखनाथ ने अपना योग-संबंधी ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखा था। वैष्णव-युग में हिन्दी गद्य अधिक परिमार्जित रूप में हमारे सामने आया। गोस्वामी विट्ठलनाथ का "शृंगार-रस-मंडन", गोस्वामी गोकुलनाथ के "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" तथा "वन यात्रा" नामक ग्रन्थ इस समय ब्रज भाषा गद्य में ही लिखे गये। अष्टछाप वाले नन्ददास जी ने भी दो गद्य-ग्रन्थों की रचना की थी और इन्हीं के समकालीन हरिराय जी ने गद्य में तीन पुस्तकें लिखी थीं। संवत् १६२० में गंगभद्र ने "चन्द छन्द वर्णन की महिमा" नामक ग्रन्थ खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा में लिखा था। संवत् १६८० में जटमल ने "गोरा बादल की कथा" जिस गद्य में लिखी, उसमें खड़ी बोली की प्रधानता थी।"

अस्तु १९ वीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी गद्य की तीन परम्पराएं स्पष्ट प्राप्त होती हैं; राजस्थानी गद्य परम्परा, ब्रजभाषा गद्य परम्परा, तथा खड़ी बोली गद्य परम्परा। ब्रजभाषा गद्य में कुछ तो स्वतन्त्र रूप में लिखित अनूदित या मौलिक ग्रन्थ हैं, कुछ काव्य टीकाओं के रूप में लिखित हैं तथा अन्य स्वयं कवियों द्वारा अपने काव्य-ग्रन्थ की टिप्पणियों के ढंग पर रचित

हैं। राजस्थानी गद्य परम्परा का साहित्य बहुत कुछ नष्ट हो चुका है किन्तु विद्वानों का विचार है कि ब्रजभाषा गद्य की अपेक्षा राजस्थानी गद्य अधिक संपन्न है । राजस्थानी में दान पत्रों, पट्टों-परवानों जैन ग्रन्थों, इतिहास, गणित, ज्योतिषआदि विविध विषयों से संबंधित प्रचुर सामग्री विद्यमान है। टीका-टिप्पणी और अनुवाद भी इसमें मिलते हैं ।

१९ वीं शताब्दी तक ब्रज तथा राजस्थानी गद्य परम्परायें समाप्त-प्राय हो गईं और खड़ी बोली गद्य का क्रमबद्ध विकास प्रारंभ हुआ। अंग्रेजों की प्रभुत्व-स्थापना के बाद खड़ी बोली का उत्तर भारत के विविध प्रांतों में प्रसार होने लगा। शासकों ने शासन तथा शिक्षा संबंधी कार्य खड़ी बोली में प्रारंभ कर दिया और 'प्रेस' की सहायता सुलभ हो सकने केकारण खड़ी-बोली, राजस्थानी एवं ब्रजभाषा को परास्त कर आगे बढ़ी। सन् १८०० में "फोर्ट विलियम कालेज" की स्थापना खड़ीबोली-गद्य के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है । सन् १७४१ में पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' में, मध्यप्रान्त के दौलत राम ने १७६१ के लगभग 'जैन पद्म-पुराण' में जिस भाषा का प्रयोग किया उसमें हिन्दी गद्य का शुद्ध रूप मिलता है। फोर्ट विलियम की स्थापना के कुछ पूर्व मथुरानाथ शुक्ल ने 'पंचांग दर्शन' लिखा था और इसके आस पास के समय में ही सदासुखलाल ने विष्णुपुराण के आधार पर गद्य रचना की थी। सन् १७९८ से १८०८ के बीच इंशाउल्ला ने रानी केतकी की कहानी लिखी थी। अस्तु, निश्चय ही १८०३ तथा १८१० के मध्य रचित लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' हिन्दी गद्य की सर्वप्रथम रचना नहीं है और न 'फोर्ट विलियम कालेज' आधुनिक खड़ी बोली का आविष्कारक कहा जा सकता है। हिन्दी को शैशव से किशोरावस्था की ओर अग्रसर करने का श्रेय "फोर्ट विलियम" को दिया जा सकता है ।

अंग्रेजों के शासन काल में हिन्दी गद्य के विकास के लिए पर्याप्त कार्य हुआ। ईस्ट इण्डिया कंपनी के सामने प्रश्न यह था कि भारत में सर्व-साधारण

के लिए किस भाषा को प्रयोग में लाया जाय। परम्परा की दृष्टि से सरकारी काम-काज की भाषा अब भी 'फारसी' बनीहुई थी किन्तु वह जन साधारण की भाषा न कभी थी और हो सकी। भारत की सामान्य जनता में अंग्रेजी का प्रसार भी असंभव था। सन् १८३७ में कम्पनी ने अदालती तथा अन्य शासन सम्बधी कार्यों से फारसी का प्रयोग हटा दिया। इस कार्य के लिए भारतीय भाषा की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न हुए। शासकों द्वारा ग्रहीत यह भाषा अभी सुस्थिर न हो पायी थी। खड़ी बोली को शासकीय कार्यक्षेत्र में विशुद्ध हिन्दुस्तानी या उर्दू के अरबी फारसी प्रधान रूप में अपनाया गया।

लार्ड वेल्जली ने फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष पद पर गिलक्राइस्ट साहब की नियुक्ति की। गिलक्राइस्ट के समय से ही हिन्दुस्तानी पाठ्य पुस्तकों की रचना आरंभ हो गई। फोर्ट विलियम कालेज में पढ़े गिलक्राइस्ट के शिष्य कंपनी के कर्मचारी बनकर सरकारी विभागों में यही भाषा और शैली को लेकर जाते थे। इस भाषा में अनेक दोष थे। यह भाषा अशिक्षित जनता की वास्तविक भाषा से बहुत दूर थी, जिन लोगों का अदालत से संबंध न था वे कानूनी शब्दावली समझ तक नहीं सकते थे। १९३७ में फारसी हटाते समय जन साधारण से संपर्क बढ़ाने का जो उद्देश्य था वह अपूर्ण ही रहा। हाँ,गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लल्लू लाल तथा सदल मिश्र द्वारा खड़ी बोली गद्य रचना का कुछ कार्य अवश्य संपन्न हुआ। सन् १८२४ के लगभग विलियम प्राइस, डी० रडेल और लार्ड एमहर्स्ट ने गंगा की घाटी की भाषा-संबंधी समस्या का महत्वपूर्ण विवेचन किया। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार 'हिन्दी का निश्चित और नियमित रूप से प्रयोग इन्हीं के द्वारा हुआ। इन्होंने हिन्दुस्तानी और उर्दू का भेद भली प्रकार समझा।' विलियम प्राइस की अध्यक्षता में सीताराम पंडित ने मुंशियों और बंगालियों को हिन्दी पढ़ाई।

१९ वीं शताब्दी में हिन्दी खड़ी बोली गद्य का विकास करनेवाले निम्न चार महानुभावों की चर्चा प्रमुख रूप से होती है:--

(१) दिल्ली निवासी सदासुखलाल जिनका उपनाम 'सुखसागर' था। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में कहीं कहीं पर 'सुखसागर' नामकी इनकी पुस्तक का भी उल्लेख मिलता है। श्यामसुन्दर दास जी ने "हिन्दी साहित्य" में लिखा है कि इनका लिखा हुआ सुखसागर नामक कोई ग्रन्थ नहीं है। इनके लिखे कई गद्य लेख मिलते हैं जिनमें शुद्ध तत्सम और तद्भव शब्द हैं।

(२) मुर्शिदाबाद के इंशाउल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी लिखी जो ठेठ हिन्दी में थी। लिखते समय इनका उद्देश्य 'हिन्दवी' को छोड़कर और 'किसी बोली का पुट' अपनी रचना में रखने का नहीं था। इनकी रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है, यद्यपि वाक्य-रचना उर्दू-ढंग की ही है।

(३) लल्लूजीलाल--आगरा निवासी थे। इन्होंने 'प्रेमसागर' की रचना की जिसमें भागवत के दशमस्कन्ध की कथा का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्होंने बैताल पचीसी और सिंहासन बत्तीसी नामकी दो पुस्तकें लिखीं जिनकी भाषा हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती है।

(४) सदल मिश्र--फोर्ट विलियम कालेज में अस्थायी रूप से कार्य करते थे। इनकी प्रधान रचना चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान १८०३ में प्रस्तुत हुई। १८०६ मेंइन्होंने अध्यात्म रामायण का अनुवाद किया तथा १८०९ हिन्दी-फारसी कोष का रूपान्तर किया। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में "लल्लूलाल के प्रेमसागर की तुलना में 'चन्द्रावती' का गद्य अधिक प्रौढ़, स्पष्ट तथा प्रभावयुक्त है।

सामान्यतः अब तक हुई गद्य रचनाओं को ध्यान से देखने पर भाषा शैली के दो रूप स्पष्ट हो जाते हैं। एक उर्दू ढंग की वाक्य रचना तथा

शब्दावली का प्रचुर प्रयोग करने वाली भाषा शैली; दूसरी शुद्ध हिन्दी शब्दों के प्रयोग वाली रचनाओं की शैली।

इस बीच में ईसाइयों द्वारा भारत में अपना धर्म प्रचार करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। प्रथम तो ईस्ट इण्डिया कंपनी के कर्मचारियों द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न का विरोध किया गया किन्तु १८१३ ई० में विल्ब फोर्स एक्ट जारी होने पर ईसाई धर्म प्रचारक निर्बाध अपना कार्य करने लगे। विलियम हण्टर और कोलब्रुक जैसे प्रसिद्ध ईसाई प्रचारकों ने बाइबिल के अनुवाद प्रस्तुत किये। १८२० के लगभग 'विलियम ब्राडले' ने अरबी फारसी शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया और 'मत्ती, मरकस, तथा लूक' नामक तीन सुसमाचार प्रकाशित किये। फिर 'यहून्ना' नामक सुसमाचार प्रकट हुआ। १९२६ में "जगतारक प्रभु ईसामसीह का नाम नियम मंगल समाचार" के नाम से पूरा "न्यू टेस्टामेंण्ट" छपा। इसके अतिरिक्त ईसाइयों द्वारा दोहा चौपाइयों में लिखित 'ईसामसीह की जीवनी, 'दाऊद के गीत' खण्डन-मण्डन, उपदेश-भजन संबंधी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

बाबू श्यामसुन्दरदास "हिन्दी साहित्य" में लिखते हैं कि अंग्रेजों ने राजनीतिक दाँव पेंच के कारण मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी; पर वे भली भाँति जानते थे कि उर्दू यहां के जनसाधारण की भाषा नहीं है, नहीं तो बाइबिल का अनुवाद शुद्ध हिन्दी में कराने का कोई कारण नहीं। इन पुस्तकों की भाषा उर्दूपन से बहुत दूर है।

इसी युग में स्वामी दयानन्द द्वारा आर्य समाज की स्थापना हुई। आर्य-संस्कारों के विकास के लिए दयानन्द जी ने समस्त देश की एकमात्र भाषा हिन्दी घोषित की और उसका अध्ययन प्रत्येक के लिए अनिवार्य बताया। वास्तव में आर्य समाज ने हिन्दी के विकास में बहुत अधिक सहायता की। पंजाब जैसे उर्दू के गढ़ में हिन्दी-प्रेम उत्पन्न करना आर्य समाज का ही कार्य है।

इस समय देश की भाषा की विचित्र अवस्था थी। उर्दू के प्रति सरकारी पक्षपात और शक्ति होने के कारण नागरी हिन्दी के समर्थकों को लेने के देने पड़ रहे थे। भाषा की इस पक्षपातयुक्त 'रस्साकशी' में कुछ ऐसे सज्जनों की सेवा बड़े महत्व की सिद्ध हुई जो देखने में उर्दू बहुला भाषा की प्रवृत्ति के लिए लगते थे किन्तु वस्तुत: वे उर्दू का जोर घटाने का कार्य कर रहे थे। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के कारण हिन्दी का नक्षत्र कुछ प्रबल हुआ। इन्हीं के प्रयत्न से नागरी हिन्दी को स्कूलों में स्थान मिला। उन्होंने स्वयं भी "राजा भोज का सपना", "इतिहास तिमिर नाशक" आदि रचनाओं द्वारा हिन्दी की सेवा की। राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिन्दी शब्दों का प्रयोग करके शकुन्तला नाटक लिखा।

'सितारे हिन्द' के साथ-साथ 'भारतेन्दु' का उदय हिन्दी के लिए अत्यन्त शुभ घटना थी। एक ने शासकों की बुद्धि पर प्रकाश डाला और दूसरे ने शुद्ध हिन्दी के स्वरूप को प्रकाशित एवं परिमार्जित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की भाषानीति से मतभेद रखते थे। शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भारतेन्दु का आदर्श थी। अपने युग में शासकों द्वारा उर्दू भाषा के प्रति पक्षपात एवं शुद्ध हिन्दी के प्रति अपने बहुत से बन्धुओं की उपेक्षा को लक्षित करके ही उन्होंने अपने हृदय का क्षोभ इन शब्दों में व्यक्त किया था:—

"भाषा भई उर्दू जग की अब, तौ इन ग्रन्थन नीर डुबाइये।"

उस युग में शुद्ध हिन्दी के लिये किया गया आन्दोलन स्व० प्रताप नारायण मिश्र द्वारा दिये गये इस नारे को लेकर चला:—"सब मिल बोलो एक जबान। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥" पत्र-पत्रिकाओं के उदय का युग भी यही था, अस्तु, उस समय की पत्रिकाओं में सर्वत्र उर्दू के विरोध तथा हिन्दी के समर्थन की सामग्री प्रकाशित होने लगी। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार पं० प्रतापनारायण मिश्र की "तृप्यन्ताम्" में तीक्ष्ण व्यंग्य तथा

"मन की लहर" में दुःख भरी बातें सुनकर उर्दू परस्त शर्म से अपना सर नीचे किये बिना न रहेंगें ।

हिन्दी का समर्थन तथा उर्दू के विरोध की भावना जाग्रत करने का आन्दोलन कार्य तो चला ही, साथ-साथ भारतेन्दु तथा उस युग के सभी लेखकों ने क्रियात्मक रूप से हिन्दी गद्य को अपनी कृतियों द्वारा परिवर्द्धित किया। पत्रकारिता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि साहित्य की विविध शाखाओं का बहुमुखी विकास भारतेन्दु युग की प्रधान विशेषता है। प्राचीन गद्य शैली का विकास एवं नवीनता का समावेश करने का श्रेय वास्तव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "प्राचीन और नवीन के सन्धिस्थल" पर खड़े होकर उन्होंने प्राचीन और नवीन गद्य शैलियों का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया।

भारतेन्तु युग के गद्य लेखकों में पंडित बालकृष्ण भट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्य समाज के प्रख्यात कार्यकर्ता पं० भीमसेन शर्मा भी इस समय हुए। पं० अंबिकादत्त व्यास भी उस युग के मौलिक लेखकों में से हैं। स्वयं भारतेन्दु ने तो पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार किया ही—पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री बालमुकुंद गुप्त आदि ने भी इस दिशा में स्पृहणीय कार्य किया।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य को प्रौढ़ता प्रदान की उसके बाद सर्वसाधारण में हिन्दी का व्यापक प्रचार हो गया। सर्वसाधारण द्वारा गृहीत हो जाने पर हिन्दी का रूप बहुत विशृंखल और अव्यवस्थित हो गया। महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने साधारण जनता की भाषा को स्थिर और निश्चित रूप देकर गद्य साहित्य को अनुशासित किया। "हिन्दी साहित्य" नामक पुस्तक में श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—

"भाषा को काट छाँटकर दुरुस्त करने, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा करने, नवीन लेखकों में उत्साह बढ़ाने और अंग्रेजी की ओर झुके

हुए अनेक नवयुवकों को हिन्दी की ओर आकर्षित करने का बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य द्विवेदी जी ने किया ।"

संवत् १९५० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई । इस संस्था के द्वारा हिन्दी के गौरव को वास्तविक प्रतिष्ठा हुई । हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसन्धान का श्रेय इसी संस्था को है । "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" द्वारा प्राचीन साहित्यिक अनुसंधानपूर्ण लेखों का क्रम चला और इस दिशा में अनेक पुरस्कारों की व्यवस्था करके संस्था ने इस कार्य को प्रोत्साहित किया। वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण की प्रेरणा भी हमें इस पत्रिका के द्वारा प्राप्त हुई। नागरी प्रचारिणी सभा ने 'हिन्दी शब्द सागर' तैयार कराया जो हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक शब्दकोष है ।

अस्तु भारतेन्दु जी के पश्चात् महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' द्वारा तथा बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा हिन्दी गद्य को संपन्न एवं सम्पुष्ट किया। आधुनिक हिन्दी गद्य इन्हीं दो विभूतियों के परिश्रम का प्रतिफल है ।

हिन्दी के राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने में हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा उसके प्राण वयोवृद्ध राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के भगीरथ प्रयत्न को विस्मृत कर देना कृतघ्नता होगी। सम्मेलन ने हिन्दी परीक्षाओं का प्रचार करके जनता की रुचि हिन्दी साहित्य की ओर आकर्षित की और दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए सराहनीय उद्योग किया। सम्मेलन प्रतिवर्ष किसी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पुस्तक पर बारह सौ रुपये का प्रसिद्ध मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान करता है जिससे उच्चकोटि के साहित्य-सृजन में उत्साह एवं प्रेरणा प्राप्त होती है ।

गद्य रचना के अन्तर्गत नाटक, कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, गद्यगीत आदि का समावेश होता है । यहाँ हिन्दी निबन्ध के विकास के संबंध में संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है ।

निबन्ध रचना साहित्य क्षेत्र में अपना एक विशेष स्थान रखती है। इससे लेखक के गंभीर अध्ययन और उसकी विचारपूर्ण तर्क प्रणाली का पता चलता है ।

निबन्ध को कई कोटियों में विभाजित किया जाता है। जैसे विचारात्मक, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक आदि । हिन्दी में निबन्ध का एक और रूप गद्य-काव्य के रूप में भी उपलब्ध है ।

निबन्ध

भारतेन्दु जी के समय में निबन्ध रचना अधिकतर मनोरंजन के लिए होती थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्णभट्ट, बद्रीनारायण चौधरी आदि भारतेन्दु के समकालीन लेखक हैं। मिश्र जी की शैली में विनोद-प्रियता और ग्रामीणता की झलक अधिक है। भट्ट जी के लेख कुछ अलंकारिक शैली में लिखे गए हैं और कुछ मनोरंजनात्मक शैली में। चौधरी जी के लेखों से उनकी अलंकारप्रियता और संस्कृत विज्ञता प्रकट होती है।

इनके पश्चात पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने 'बेकन-विचार-रत्नावली' नाम से बेकन के अंग्रेजी निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित किया। सरस्वती पत्रिका में भी वे समय समय पर अपने मौलिक निबन्ध लिखते रहे जिनमें से कुछ का संग्रह 'सुकवि संकीर्तन' 'अद्‌भुत अलाप' आदि के नाम से निकल चुका है। पं० माधव प्रसाद मिश्र ने 'सुदर्शन' का संपादन करते हुए 'रामलीला' आदि विषयों पर अपनी सशक्त भाषा में ओजपूर्ण लेख लिखे थे जिनसे उनका अपनी संस्कृति और सभ्यता से अटूट प्रेम प्रकट होता है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त का 'शिव शम्भु का चिट्ठा' उस समयकी राजनीतिक स्थिति पर व्यंग्य-पूर्ण प्रकाश डालता है। इसी तरह के और भी लेख वे 'भारत मित्र' में लिखा करते थे। उनके संपादकत्व में भारत मित्र खूब चमका। पं० गोविन्द-नारायण मिश्र ने संस्कृत गर्भित एवं अनुप्रासमयी भाषा में कवित्वपूर्ण निबन्ध लिखे। हास्यरसात्मक लेख लिखने में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम विशेष प्रसिद्ध है। हमारे दुर्भाग्य से हमें पूर्णसिंह जी के अधिक लेख नहीं

मिलते, फिर भी उनके जितने लेख उपलब्ध हो सके हैं उनसे उनकी शैली की मौलिकता और उनके विचारों की नूतनता स्पष्ट लक्षित होती है। बाबू गुलाबराय एम० ए० ने भी कई भावात्मक विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं। बाबू गंगाप्रसाद उपाध्याय और लाला कन्नोमल ने दार्शनिक निबन्ध लिखे और इस संबंध में उनका नाम विशेष उल्लेखनीय है। दर्शन जैसे गंभीर विषय पर उनके विचारपूर्ण निबन्ध निस्संदेह हमारे गौरव की वस्तु है। संस्कृत के विद्वान् पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने 'समालोचक' नामक मासिक पत्र में गूढ़ शास्त्रीय विषयों पर विद्वत्तापूर्ण मनोरंजक निबन्ध लिखे। शर्मा जी के लेख विनोदपूर्ण होते हुए भी शिष्टता से खाली नहीं है। उनमें हास्य है, परन्तु संयत ! बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने संस्कृत गर्भित भाषा द्वारा हिन्दी में नवीन विषयों का समावेश किया है। बाबू साहब की शैली व्याख्यात्मक है और इसीलिए से क्लिष्ट विषयों को भी भली प्रकार मनोनिविष्ट करने में सफल होते हैं। हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति के लिए बाबू साहब ने जो उद्योग किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। 'विचार-बीथी' के यशस्वी लेखक पं० रामचन्द्रजी शुक्ल का नाम इस संबंध में नहीं भुलाया जा सकता। शुक्ल जी ने गंभीर साहित्य को जन्म दिया ह। क्रोध, श्रद्धा आदि मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले उनके निबन्ध स्थायी साहित्य की संपत्ति हैं। उनके द्वारा शुक्लजी के मननपूर्ण अध्ययन और व्यापक पाण्डित्य का स्पष्ट पता चलता है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०, ने भी कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। 'पंचपात्र' और 'विश्व-साहित्य' बख्शी जी के समय समय पर लिखे गये निबन्धों के अच्छे संग्रह ग्रन्थ हैं। 'व्यक्ति-समस्या', 'समाज-समस्या' और उपन्यास आदि विषयों पर उनके निबन्ध बड़े विद्वत्तापूर्ण हैं।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, दिनकर, महादेवी वर्मा, नगेन्द्र, भगीरथ मिश्र और रामविलास शर्मा अपने समालोचनात्मक निबन्धों के कारण हिन्दी संसार में ख्याति प्राप्त कर चुके

हैं। इनके जो संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनसे इनकी प्रतिभा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ये संग्रह किसी भी भाषा के उच्च से उच्च निबन्धों की तुलना में रखे जा सकते हैं।

इस प्रकार हिन्दी के निबन्ध साहित्य की उन्नति हो रही है। उसमें समय की आवश्यकता और जनता की रुचि के अनुसार विविध विषयों पर निबन्ध लिखने वाले अनेक लेखक हैं। फिर भी हमारा निबन्ध साहित्य अपनी पूर्णता को पहुँच चुका है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। दूसरे देशों में निबन्धों का महत्व बहुत अधिक है। वे गद्य की कसौटी समझे जाते हैं। इस दृष्टि से अभी हमारे यहाँ निबन्ध-साहित्य का जितना विकास हो थोड़ा है।

गद्य काव्य

गद्य काव्य से हमारा अभिप्राय उस सरस और भावात्मक गद्य विधान से है जिसमें हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का विशद चित्रण, प्रबल मनोवेगों की तीव्र व्यंजना, उच्चकोटि की काल्पनिक विचार शैली तथा सरस और मधुर पद विन्यास हो। कुछ समय पूर्व तक छन्द शास्त्र नियमों से आबद्ध नपे तुले शब्दों में प्रकट की गई विशेष भाव प्रणाली को ही काव्य कहा जाता था। गद्य में भी कवित्व आ सकता है। इसकी ओर हमारे हिन्दी कवियों का ध्यान नहीं गया। परन्तु अब कुछ दिनों से हिन्दी ग्रद्य की भावावेशमयी संयत शैली में काव्य के गुणों का आरोप किया जा रहा है। इस संबंध में कुछ ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। वियोगी हरि जी के 'तरंगिणी' 'पगली' और 'अन्तर्नाद' इसी शैली के ग्रन्थ हैं। इनमें भारतवर्ष की वर्तमान दयनीय करुणावस्था का भाव गर्भित भाषा में सजीव चित्र खींचकर रख दिया गया है। वियोगी हरि लिखित 'प्रेमयोग' और 'साहित्य-विहार' भी गद्य-काव्य की सुन्दर रचनाएँ हैं। प्रेम जैसे व्यापक, और गंभीर विषय पर 'प्रेमयोग' में बड़ा सुन्दर प्रकाश ड़ाला गया है और 'साहित्य-विहार' में 'नेत्र' 'चन्द्रमा' 'ब्रज भूमि' आदि पर प्राचीन कवियों की मार्मिक उक्तियों के साथ बड़े भावपूर्ण और सरस निबन्ध लिखे गए हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में आन्तरिक भावों की व्यंजना प्रबल वेग से की गई है। हिन्दी साहित्य संसार में अपनी 'लौह लेखनी' के लिए प्रसिद्ध शास्त्री जी ने उसमें अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इसमें संदेह नहीं कि 'अन्तस्तल' की भाषा में कोमल पद-माधुरी और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का प्रायः अभाव सा है परन्तु फिर भी उसमें ओज है, प्रभावोत्पादकता है।

रवीन्द्र के प्रभाव से जिस रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग हिन्दी संसार में आया और उससे जिस भावात्मक गद्य का अविर्भाव हुआ, उसके उत्कृष्ट उदाहरण 'साधना' और 'अन्तर्नाद' हैं। राय कृष्णदास की साधना की समतल पृष्ठभूमि पर हमें उसी भावधारा के पवित्र प्रवाह के दर्शन होते हैं, जो गीतांजलि में दिखलाई देती है। साधना गद्य काव्य का एक अनूठा ग्रन्थ है। साधना का उद्देश्य प्राणेश की सिद्धि है और इसीलिए उसमें हमें भक्त हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का तीव्र चित्रण मिलता है। इसमें प्रकृतिवाद और आध्यात्मवाद—दोनों का समन्वय है। परोक्ष शक्ति की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है, उसकी बड़ी सरस एवं मधुर व्यंजना इस ग्रन्थ में हुई है। भाव और भाषा का जितना सुन्दर सामंजस्य इस ग्रन्थ में हुआ है उतना अन्यत्र खोजने से मिलेगा। इसमें भक्ति है, हास्य है, सायुज्य भावना है और नत उन्नत मार्ग का प्रदर्शन है।

हिन्दी गद्य-काव्य-लेखकों की संख्या अधिक नहीं है, फिर भी इन ग्रन्थों के आधार पर उसके भविष्य के लिए बड़ी-बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं।

प्रस्तुत संकलन में जो निबन्ध रखे गये हैं, वे निबन्ध रचना के विकास का परिचय देते हैं। निबन्धों के स्तर उच्च माध्यमिक परीक्षा के विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर निर्धारित किये गये हैं। आशा है विद्यार्थी इससे लाभान्वित होंगे।

—मुंशीराम शर्मा

—सिद्धिनाथ मिश्र

१—एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म सम्वत् १९०७ में काशी में हुआ। बचपन में ही पिता का देहान्त हो गया; और स्कूली शिक्षा विशेष नहीं हुई। वयस्क होते ही इनकी रुचि कविता और देशभक्ति की ओर हुई। ३४ वर्ष की अल्पायु ही में १७५ ग्रन्थ लिखे। नागरी प्रचारिणी सभा ने आपके अधिकांश साहित्य को भारतेन्दु ग्रन्थावली और भारतेन्दु नाटकावली में संग्रहीत किया है।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी का महत्त्व विशेष रूप से हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा का परिष्कार करने में है। उनकी भाषा में ब्रजभाषापन, पंडिताऊपन, अरबीपन, उर्दूपन और खालिसपन नहीं है। संस्कृत शब्दों के रहने पर भी भाषा सुबोध और स्वतन्त्र सत्ता लिये हुए है। शब्दों की काट-छांट के सिवा वाक्य-विन्यास को भी आपने पमिार्जित किया। काव्य भाषा में जो शब्द बोलचाल से उठ गए थे उन्हें निकाला और जनता के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया।

भाषा के संस्कार के साथ ही साथ भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा, एक नया मार्ग प्रदान किया। युग की आवश्यकता और मांग के अनुरूप नये विषय और नये भाव को प्रधानता दी। अतीत गौरव और देश दुर्दशा का गर्व, क्षोभ और विषादपूर्ण स्वर भारतेन्दु के साहित्य में पहली बार मुखरित हुआ।

एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न इनके गद्य का श्रेष्ठतम उदाहरण है। व्यंग और विनोद का यहाँ बड़ा सुन्दर संयोग हुआ है। कल्पना का प्रचुर उपयोग भी किया गया है। भारतेन्दु ने गद्य का जो परिष्कार किया था उसका यह निबन्ध उत्कृष्ट उदाहरण है।]

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आंख लग गयी। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस संसार में नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योंकि यहांकी रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वांव स्वांस पर हरि भजो, वृथा स्वांस मति खोय,
ना जाने या स्वांस को आवन होय न होय॥

देखो समय सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। काल-वस शशि-सूर्य भी नष्ट हो जायेंगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। केवल कीर्ति-कमल संसार-सरवर में रहो वा न रहो, और सब तो एक दिन तप्त तवे की बूँद हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच-समझ प्रथम यह विचार किया कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परन्तु थोड़ी ही देर में समझ में आ गया कि इन दीनों की सभ्यता के अनुसार इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं, और यह तो मुझे भली भांति मालूम है कि यही अंग्रेजी शिक्षा रही तो मन्दिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़-पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े कांटे निकले। क्योंकि बनने की देर न होगी कि कीट 'क्रिटिक' काटकर आधी से अधिक निगल जायेंगे। यश के स्थान शुद्ध अपशय प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज आंख बन्द कर शम्भु की सी समाधि लगा गया, यहां तक कि इक-

सठ वा इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। अन्त को एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूंछ हाथ में पड़ गयी। स्वप्न में होते हो पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया। परन्तु जब थैली में हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। आप जानते हैं इतने में मेरी अपूर्व पाठ-शाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था। निदान अपने इष्ट-मित्रों की भी सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चुनवा लेते तब तो भी दस-पांच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते होते सब हरिकृपा से बन कर ठीक हुआ। इसमें जितना समस्त व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु इतना अपने मुन्शी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी में पड़े थे, बनने को तो एक क्षण में सब बन गया था, परन्तु उससे काम जोड़ने में पूरे पैंतीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बन कर ठीक हुई उसी दिन हमने हिमालय की कंदराओं में से खोज-खोजकर अनेक उद्दंड पडित बुलवाये, जिनकी संख्या पौन दशमलव से अधिक नहीं है। इस पाठशाला में अनगिनत अध्यापक नियत किये गये। परन्तु मुख्य केवल ये हैं। पंडित मुग्धमणि शास्त्री, तर्क वाचस्पति—प्रथम अध्यापक। पाखंड प्रिय धर्माधिकारी–अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणान्तकप्रसाद वैद्य-राज–अध्यापक वैद्यकशास्त्र। लुप्तलोचन। ज्योतिषाभरण–अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शील दावानल नीतिदर्पण–अध्यापक नीतिशास्त्र और आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितों के आ जाने पर अर्धरात्रि गये पाठशाला खोलन बैठे। उस समय सब इष्टमित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया जो संसार को बनाकर क्षणभर में नष्ट कर देता है। और जिसने विद्या, शील और बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिन्दा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि-धन्यवाद पूर्वक आज इस सभा के सम्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके

प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को अंगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे, नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते-डूबते बचे थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोलकल्पना सत्य हो जायगी, परन्तु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब संकट दूर हुए और अन्त समय हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्टमित्रों की सहायता को भी न भूलेंगे कि जिनकी कृपा से इतना द्रव्य हाथ आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया। और दस पांच पीढ़ी तक हमारी संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र, परिवार के लोग, चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें। हे सज्जनो! यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन-मन से आप इस धर्म-कार्य्य में प्रवृत्त हुए, नहीं तो मैं दो-हाथ पैरवाला बेचारा मनुष्य आप के आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता, यहां तो घर की केवल मूंछें ही मूंछें थीं। कुछ मेह कुछ गंगाजल, काम आपकी कृपा से भली भांति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर से हरे किये। हे सज्जन! शुभ चिन्तको! संसार में पाठशाला अनेक हुई होंगी। परन्तु हरिकृपा से जो आप लोगों की सकलपूर्ण कामधंनु यह पाठशाला है वैसी अचरज नहीं कि आपने इस जन्म में न देखी-सुनी होगी। होनहार बलवान है, नहीं कलिकाल में ऐसी पाठ-शाला का बनना कठिन था। देखिये यह हमलोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सतयुग के आदि में इन्द्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और बन-जंगलों में खोजता फिरा; अन्त को हार मान बृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य की ही महिमा थी कि वे ही पण्डितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शशा के धोखे से बद्रिकाश्रम की एक कंदरा में पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिल में सरस्वती भी लजाती है। इसमें संदेह नहीं कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पंडित मूर्ख और

अबोध पंडित हो जायेंगे। हे मित्र ! मेरे निकट जो महायश बैठे हैं इनका नाम पंडित पाखण्डप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानता थी, सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रक्खा था। परन्तु अब कालचक्र के मारे अंग्रेजी पढ़े हिन्दुस्तानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचा कर हिमालय की तराई में हरित दूर्वा पर संतोष कर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहां अब श्वान श्रृगाल के संग दिन काटने पड़े। परन्तु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कातिक मास भी इनको लोग थिर रह जाने देंगे तो हरिकृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार पांच दिन में पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न पण्डित प्राणांतक प्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण हैं तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न बन पड़ेंगी। ये महावैद्य के नाम से इस संसार में विख्यात है। चिकित्सा में एसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नहीं देते केवल उसी समय तक प्राणी के संसारी विथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए, इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई ,परन्तु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इसलिए आप आतुर न हूजिये ओर शष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिये।

ये लुप्त-लोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दंड पंडित हैं। ज्योतिष विद्या में अतिकुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूंढ़ आये हैं। और कितने ही नवीन ग्रन्थों की रचना कर डाली है। उनमें से 'तमिस्त्र-मकरालय' प्रसिद्ध और प्रशंसनोय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परन्तु तारे इनकी आंखों में भलीभांति बैठ गये हैं।

रहे पण्डित शीलदावानल नीति दर्पण, इनके गुण अपार हैं समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बालब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं नें पढ़ी थी परन्तु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अंग्रजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहां तक सराहंना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने-अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिन्ता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक नहीं देंगे, और दिया भी तो अभी दस-पांच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बांध देंगे, नहीं यह नियम कर देंगे, कि जो पाठशाला संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर नाम लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किये हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाय देता हूँ। शेष स्त्री शिक्षा का जो विचार था, वह आज रात को हम घर पूछ लें तब कहेंगे।

नियमावली

१. नाम इस पाठशाला का "गगन गत अविद्यावरुणालय" होगा।

२. इसमें केवल बंध्या और विधवा के पुत्र पढ़ने आवेंगे।

३. डेढ़ दिन से अधिक और पौने अट्ठावनवें से कमती आयु के विद्यार्थी भीतर न आने पावेंगे।

४. सेर भर सुंघनी अर्थात् हुलास से तीन सेर तक कक्षानुसार फीस देना पड़ेगा।

५. दो मिनट बारह बजे रात से पूरे पांच बजे तक पाठशाला होगी।

६. प्रत्येक उजाली अमावास्या को भरती हुआ करेगी।

७. कृष्णपक्ष में स्त्री और शुक्ल पक्ष में बालक शिक्षा पायेंगे।

८. परीक्षा प्रति मास होगी, परन्तु द्वितिया द्वादशी की संधि में हुआ करेगी।

९. वार्षिक परीक्षा ग्रीष्म ऋतु ,माघ मास में होगी। उसमें जो पूरे उतरेंगे वे उच्चपद के भागी होंगे और पदों के भिन्न पारितोषिक में स्त्रियों को काम की वस्तु और बालकों को खेल के खिलौने मिलेंगे।

१०. इस पाठशाला में प्रथम पांच कक्षा होंगी। दो स्त्रियों की और तीन पुरुषों की। और प्रत्येक ऋतु में अन्त में परीक्षा लेकर नीचेवाले ऊपर की कक्षा में भर दिये जायेंगे।

११. प्रतिपदा और अष्टमी भिन्न, एक अमावास्या को स्कूल और खुलेगा, शेष सब दिन बन्द रहेगा।

१२. किसी को काम के लिए छुट्टी न मिलेगी, और परोक्ष होने में पांच मिनट में दो बार नाम कटेगा।

१३. कुछ भी अपराध करने पर चाहे कितना ही तुच्छ हो 'इण्डियन पिनल कोड' अर्थात् ताजीरात हिन्द के अनुसार दण्ड दिया जायगा।

१४. मुहर्रम में एक साल पाठशाला बन्द रहेगी।

१५. मलमास में अनध्याय के कारण नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जायगी।

१६. छल, निन्दा, द्रोह, मोह आदि भवसागर में चतुर्दश कोटि रत्न घोलकर पिलाये जाया करेंगे।

१७. इसका प्रबंध धूर्तवंशावतंस नाम जगत विदित महाशय करेंगे।

१८. नीचे लिखी हुई दुस्तकें पढ़ायी जायेंगी—

व्याकरण—मुग्ध मंजरी, शब्द संहार, अज्ञानचन्द्रिका।

धर्मशास्त्र—वंचकवृत्ति-रत्नाकर, पाखण्डविडंबन, अधर्मसेतु।

वैद्यक---मृत्युचिन्तामणि, मनुष्यधनहरण, कालकुठार ।

ज्योतिष---मुहूर्तमिथ्यावली, मूर्खाभरण, गणितगर्वांकुर ।

नीतिशास्त्र---नष्टनीतिदीप, अनीतिशतक, धूर्तपंचाशिका ।

इन दिनों की सभ्यता के मूल ग्रन्थ---असत्यसंहिता, दुष्टचरितामृत, भ्रष्टभास्कर ।

कोष---कुशब्दकल्पतरु, शून्यसागर ।

नवीन नाटक---स्वार्थ संग्रह, कृतघ्नकुलमण्डन ।

अब जिस किसी को हमारी पाठशाला में पढ़ना अंगीकार हो, यह समाचार सुनने के प्रथम, तार से खबर दे। नाम उसका किताब में लिख लेंगे, पढ़ने को आओ चाहे मत आओ।

२—पर चित्तानुरंजन

बालकृष्ण भट्ट

[पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सं० १९०१ में और स्वर्गवास सं० १९७१ में हुआ। वे प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। उन्होंने संवत् १९३३ में अपना 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक शुरू किया था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक और नैतिक आदि विषयों पर छोटे-छोटे निबन्ध आप तीस-बत्तीस वर्ष तक लिखते रहे। स्थान-स्थान पर कहावतों और मुहावरों का प्रयोग देखते ही बनता है। व्यंग और वक्रता की भरमार रहती है। यहाँ वहाँ पूरबी प्रयोग भी मिलते हैं। 'आँख', 'कान' आदि शीर्षक दे कर कई मनोरंजक निबन्ध लिखे हैं।

शैली और भाषा अधिकतर वैसी होती है जैसी खरी-खरी सुनाने में काम लाई जाती है। जिन लेखों में चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। समय के प्रतिकूल बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नये विचारों को जमाने में हमेशा तत्पर रहे। भाषा चटपटी, तीखी और चमत्कारपूर्ण।

प्रस्तुत निबन्ध व्यावहारिक मनोविज्ञान की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो लेखक पाठकों पर अपने पाण्डित्य की धाक जमाना चाहता है। फिर भी इसमें संसार के मर्म को समझने का भरपूर प्रयत्न है और है इसके पीछे एक गंभीर और सुलझा हुआ व्यक्तित्व।]

ऐसे पुरुष जो पर चित्तानुरंजन में कुशल हैं अर्थात् जिनकी सदा चेष्टा रहती है कि हमसे किसी को दुःख न मिले और कैसे हम दूसरे के मन को

अपनी मूठी में कर लें, ऐसे पुरुष मनुष्य के चोला में भी साक्षात् देवता हैं। इस लोक और परलोक दोनों को उन्होंने जीत लिया। परचित्तानुरंजन या पर छन्दानुवर्तन से हमारा प्रयोजन चापलूसी करने का नहीं है कि तुम अपनी चालाकी से "मूर्खश्छन्दानुवृत्तेन" के क्रम पर भीतर तो न जानिये कितनी मैल और कूड़ा जमा है, अपना मतलब गांठने को उसके मन की कह रहे हो, वरन अपना मतलब चाहे बिगड़ता हो, पर उसका चित्त आजुर्दा न हो। जो वह कहे उसे कबूल कर लेना ही परचित्तानुरंजन है।

दिल्ली के बादशाह नसीरुद्दीन महमूद ने एक किताब अपने हाथ से नकल की थी। एक दिन अपने किसी अमीर को दिखला रहा था। उस अमीर ने कई जगह गलती बतलाई, बादशाह ने उन गलतियों को दुरुस्त कर दिया। जब वह अमीर चला गया तब फिर वैसा ही बना दिया जैसा पहिले था। लोगों ने पूछा, ऐसा आपने क्यों किया ? बादशाह ने कहा, मुझको मालूम था कि मैंने गलती नहीं की, लेकिन खैरख्वाह और नेक सलाह देनेवाले का दिल दुखाने से क्या फायदा। इसलिए उसके सामने वैसा ही बनाय यह मेहनत अपने ऊपर लेनी मैंने उचित समझा। व्यर्थ का शुष्क-वाद और दांत किट्टन करने की बहुत लोगों की आदत हाती है। अन्त को स दांत किट्टन से लाभ कुछ नहीं होता। चित्त में दोनों के कशाकशी और मैल अलबत्ता पैदा हो जाती है। बहुधा ऐसा भी होता है कि हमारी हार होगी, इस भय से प्रतिवादी का जो तत्व और मर्म है उसे न स्वीकार कर अपने ही कहने को पुष्ट करता जाता है और प्रतिपक्षी की बात काटता जाता है। हम कहते हैं, उससे लाभ क्या ? प्रतिवादी जो कहता है उसे क्यों न मान लें, उसका जी दुखाने में उपकार क्या—

फलं न किंचित् अशुभा समाप्तिः।

सिद्धांत है—

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती।

बहुत लोग इस सिद्धांत को न मान, जो हम समझे बैठे हैं उसे क्यों न दूसरे को समझावें, इसलिए न जानिए कितना तर्क कुतर्क शुष्कवाद कहते हुए आंय-बांय बका करते हैं। फल अन्त में इसका यही होता है कि जी कितनों का दुखी होता है। मानता उसके कहने को वही है जिसे उसके कथन में श्रद्धा है। हमारे चित्त में ऐसा आता है कि जो हमने तत्व समझ रक्खा है उसे उसीसे कहें जिसे हमारी बात पर श्रद्धा हो। मोती की लरियों को कुत्ते के गले में पहिना देने से फायदा क्या ? अस्तु, हमारे प्राचीन आर्यों ने जो बहुत सी विद्या और ज्ञान छिपाया है उसका वही प्रयोजन है। जिसे इन दिनों के लोग ब्राह्मणों पर दोषारोपण करते हैं कि ब्राह्मणों ने विद्या को छिपाया, सबों को न पढ़ने दिया।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्ते भवाम्यहम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥

विद्या ब्राह्मण से यों कहती है—मैं तुम्हारा खजाना हूँ, मुझे जुगै कै रक्खो, निन्दक तथा गुण में दोष निकालनेवाले मत्सरी को मत बतलाओ, ऐसा करोगे तो मैं तुमको अत्यंत वीर्यवती हूँगी, छान्दोग्य ब्राह्मण में भी ऐसा ही कहा है—

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय।
अनर्हते मानिने नैव मादा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि।
विद्या सार्द्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत ॥

कितने लोग ऐसे हैं जिनके मधुर कोमल शब्दों में मानो फूल झरते हों। श्रुति-मनोहर उनके बदनाब्ज-निःसृत पदावलियों के एक-एक शब्द पर जी लुभाता है। किन्तु कितने कटुवादी खल ऐसा अरुन्तुद बोलनेवाले हैं कि वे जब तक दिन में दो-चार बार मर्म ताड़न कर किसी का चित्त न दुखालें

तब तक उन्हें खाना हजम नहीं होता। ऐसे दुष्टों का जन्म ही इसीलिए संसार में है कि वे अपने वाग् वज्र से दूसरों का हृदय विदीर्ण किया करें।

अतीव रोषो कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य ।

वाक्-संयम इसीलिए कहा गया है कि कहीं ऐसा न हो कि कोई शब्द हमारे मुख से ऐसा निकल जाय कि उससे दूसरे के चित्त को खेद पहुँचे। शील के सागर कितने पुरुष-रत्न चारु-दत्त से चारु-चरित्र ऐसे हैं जो अपना बहुत सा नुकसान सह लेते हैं पर लेन-देन में कड़ाई के साथ नहीं पेश आया चाहते और न वे दूसरे का जी दुखाते हैं। निश्चय ऐसे लोग महापुरुष हैं, स्वर्गभूमि से आये हैं और स्वर्ग में जायेंगे। जो परचित्तानुरंजन में लौलीन हैं, उनके समकक्ष मनुष्यकोटि में ऐसे ही कहीं कोई होंगे। यह परछन्दानुवर्तन दैवीगुण वहीं अवकाश पाता है, जहां दर्प-दाह-ज्वर की ऊष्मा का अभाव है,। अहंकारी को कभी वह बुद्धि होती है ही नहीं कि वह किसी के चित्त को न दुखावें; वरन पर छिद्रान्वेषण ही में उसे सुख मिलता है। दूसरे की ऐबजोई को वह अपने लिए दिलबहलाव मानता है। अभिमान से देवदूत और फरिश्ते भी स्वर्ग से च्युत किये गये। तब जिसमें यह शैतानी खसलत है, उसकी तुलना परचित्तानुरंजक के साथ क्योंकर हो सकती है। यह दर्प-दाह-ज्वर धनवानों को बहुतायत के साथ सवार रहता है। हमारा यह लेख उन्हीं के लिए विशेष रसांजन है। निष्किंचन, जो सामान्य मनुष्य के सामने भी गिड़गिड़ाया करता है, उसको इस रसांजन की क्या अपेक्षा है ?

बहुत से ऐसे भी लोग हैं, जिनकी चाल और ढंग कुछ ऐसा होता है कि उसे देख चित्त में विषाद और कुढ़न पैदा होती है।

यद्यपि का नो हानिः परकीयां रासभो चरति द्राक्षाम्।
असमंजसमिति मत्वा तथापि नो खिद्यते चेतः ।।

किसी दूसरे के दाख के खेत को गदहा चरे लेंता है; हमारी यद्यपि इसमें कोई हानि नहीं है किन्तु यह असमंजस सा मालूम होता है कि दाख के खेत को गदहा चरे डालता है, यह समझ चित्त को खेद होता ही है। गर्वापहारी परमेश्वर की कुछ ऐसी महिमा है कि इस तरह के तुच्छ मनुष्यों को कोई ऐसा धक्का लग जाता है कि उनकी सब ऐंठन बिदा हो जाती है और तब वे राह पर आ जाते हैं। और तब भी जो सीधे रास्ते पर न आयें, उन्हें या तो बेहया कहना चाहिए या समझना चाहिए कि उनका कुछ और अमंगल होनहार है। सोने की नाई चरित्र की परख भी कसे जाने पर होती है। कसने से जो खरा और शुद्ध चरित्र का निकला वह लोक में प्रतिष्ठा और कदर के लायक होता है और जो गदीला और खोटा निकल गया वह फिर किसी काम का नहीं रहता। समाज में सब लोग उससे घिन करने लगते हैं। जो घिन के लायक हैं उनके जीवन से फल क्या——

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्घ्नि हि सर्व लोकानां विशीर्येत वनेथवा॥

चरित्रवान मनस्वी फूलों के गुच्छा समान हैं। फूल या तो सबों के सिर पर चढ़ेगा, नहीं तो जहाँ फूला है वहीं कुम्हला के पेड़ के नीचे गिर पड़ेगा। कविवर भवभूति ने भी ऐसा ही कहा है——

नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा।
मूर्घ्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि॥

परचित्तानुरंजन के प्रकरण में इतना सब हम अप्रासंगिक गा गये, पढ़ने-वाले कहेंगे व्यर्थ की अलापचारी से यह पत्र की जगह छेक रहा है। सो नहीं। परचित्तानुरंजन चरित्र पालन का प्रधान अंग है। जो दूसरे के चित्त को अपनी मूठी में कर लेना सीखे हैं और इस हुनर में प्रवीण हैं, वे चरित्र-वानों के सिरमौर होते हैं। "स्माइल्स आन क्यारेक्टर" में यही बात कई

जगह कई तरह दर्सायी गई है। पाठक, आप भी यदि चरित्रवान् हुआ चाहो तो परचित्तानुरंजन में ध्यान लगाओ सो भी कदाचित् नापसंद हो तो एक बार हमारे इस लेख को तो पढ़ लो। देव-वाणी अंग्रेजी के लेख पढ़ने की आदत पड़ रही है। पिशाच-भाषा हिन्दी का लेख पढ़ने में अपनी हतक समझते हो तो लाचारी है। हमारे भाग में करतार ने इसी पिशाचिनी की सेवा करना लिख दिया है, तब क्या किया जाय ?

३—पंच परमेश्वर

प्रताप नारायण मिश्र

[मिश्र जी का जन्म कानपुर में सं० १९१३ में और मृत्यु सं० १९५१ में हुई। स्वभाव के बड़े मनमौजी और आधुनिक सभ्यता, शिष्टता की कम पर्वाह करते थे। फुटकल निबन्धों के अलावा कई नाटक भी लिखे। ब्रजभाषा में कविता करते थे। 'ब्राह्मण' नामक एक पत्र भी निकाला था। आपका लिखा 'जुआरी खुआरी' एक प्रहसन प्रसिद्ध है।

भाषा बहुत ही स्वच्छन्द, चपल और चलती-फिरती है। हास्य विनोद की उमंग में कभी मर्यादा का अतिक्रमण करती, कहावतों और मुहावरों की बौछार छोड़ती चलती है। लेकिन जब गंभीर विषयों पर लिखते थे तो भाषा संयत और साधु होती थी। लेखन के विषय जीवन की तरह विविध और वैचित्र्यपूर्ण होते थे। नई और मौलिक सूझ के लिए आपके लेख हमेशा बड़े चाव से पढ़े जाएंगे।

प्रस्तुत निबन्ध में 'पंच' की महिमा का गान किया गया है। 'पंच' में परमेश्वर के स्वरूप का दर्शन करते हुए लेखक ने भारतीय संस्कृति की परंपरा का निर्वाह करने के साथ सामाजिक दृष्टिकोण अपनाने की अपील भी की है।]

पंचतत्व से परमेश्वर सृष्टि-रचना करते हैं। पंच संप्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है। पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है। पंच वर्ष तक के बालकों की परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्तव्याकर्तव्य की ओर ध्यान न देकर सदा सब प्रकार रक्षण किया करते

हैं। पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। काम पंचवाण को जगत् जय करने की, पंच-गव्य को अनेक पाप हरने की,पंच प्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य-सम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े बड़ों का जी ललचाने की सामर्थ्य परमेश्वर ने दे रक्खी है।

धर्म में पंच संस्कार, तीर्थों में पंच गंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंचपवित्र आत्मा (पाक-पंजतन), इत्यादि का गौरव देखके विश्वास होता है कि पंच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ट संबंध रखता है। इसी नीति पर हमारे नीति-विदांवर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है। जिसमें सर्वसाधारण संसारी व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पंच अर्थात अनेक जन समुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें। क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण न किसी को बाह्य चक्षु के द्वारा दिखायी देता है, न किसी ने उसे कोई काम करते देखा, पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि जिस बात को पंच कहते वा करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसीसे—

पांच पंच मिल कीजै काज, हारे जीते होय न लाज। तथा—

बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
जबान खल्क को नक्कारए-खुदा समझो।

इत्यादि वचन पढ़े-लिखों के हैं, और—'पांच पंच कै भाषा अमिट होती है', 'पंचन का बैर कर कै को तिष्ठा है' इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुँह से बात-बात पर निकलते रहते हैं। विचार के देखिए कि इसमें कोई संदेह भी कहीं है कि—

जब जेहि रघुपति कर्हाहि जस, सो तस तेहि छिन होय।

की भांति पंच भी जिसको जैसा ठहराते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। आप चाहे जैसे बलवान, धनवान, विद्वान हों, पर यदि पंच की मरजी के

खिलाफ चलियेगा तो अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहिए, पर संसार से आपका वा आपसे संसार का कोई काम निकलना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। हाँ, सब झगड़े छोड़कर विरक्त हो जाइए तो और बात है। पर, उस दशा में भी पंच भूत मय देह एवं पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय का झंझट लगा रहेगा। इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं। क्योंकि पंच तो जो कुछ करते हैं, उसमें परमेश्वर का संसर्ग अवश्य रहता है, और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सिद्ध होता है। वरंच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पंच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता। पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही, पर किसको विदित होती ? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिये बैठे रहते।

सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है। जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावें, बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्गुणों का प्रचार करके पंच लोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान, प्रीतिमान बना दिया। कंचन बरसने लगा। जहां जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत उन्नतग्रीव हो गयी है। इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो-चार लोगों के द्वारापंच के हृदय में फूट फैला दी। बस, बात की बात में सबके करम फूट गए। चाहे जहां का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहां के अधिकांश लोगों की चितवृत्ति का परिणाम ही उन्नति या अवनति का मूल कारण होता है।

जब जहां के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते हैं तब थोड़े से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना चाहे—अति श्लाघनीय उद्देश्य से भी हो पर अपने जीवन को कंटकमय करना है। जो लोग संसार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं

वे मरने के पीछे यश अवश्य पाते हैं, पर कब ? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं तभी। पर ऐसे लोग जीते जी आराम से छिनभर नहीं बैठने पाते, क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना पाप है, जिसका दंड भोग किये बिना किसी का बचाव नहीं। इसमें महात्मापन काम नहीं आता। पर ऐसे पुरुषरत्न कभी कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों करोड़ों में से एक आध दिखाई देते हैं।

सो भी किसी ऐसे काम की नींव डालने का जिसका बहुत दिन आगे पीछे लाखों को शान-गुमान भी नहीं होता। अतः ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है। वे अपने वैकुण्ठ, कैलाश, गो-लोक, हेविन, बहिस्त कहीं से आ जाते होंगे। हमें उनसे क्या? हम संसारिकों के लिये तो यही सर्वोपरि सुख साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमुच विनाश की ओर जा रहे हों तो भी उन्हीं का अनुगमन करें। तो देखेंगे कि दुःख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है। जैसे कि अगले लोग कह गये हैं कि—

पंचो शामिल मर गया जैसे गया बरात।
मर्गे अम्बोह जशने दारद।

जिसके जाति, कुटुम्ब, हेती-व्यवहारी, इष्ट मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुंह से यह कभी नहीं निकलता कि परमेश्वर ने दया की। क्योंकि जब परमेश्वर ने पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसी। बरंच यह कहना चाहिए कि हमारे जीवन की पूंजी में से एक भाग छीन लिया। पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट-मित्रों में से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी। क्या उसके लिए जीने से मरना अधिक प्रिय न होगा? फिर इसमें क्या संदेह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं, पर शक्ति एक ही रखते हैं। जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उसकी प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है।

जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत है वह उसकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है। अपने ही लौं वह कैसा ही अच्छा क्यों न हो, पर इसमें मीन मेख नहीं है कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा। मरने पर भी अकेला वैकुण्ठ में क्या सुख देखेगा। इसी से कहा है—

जियत हँसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज।

क्या कोई सकल-सद्गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख-सामग्री-संयुक्त, सुवर्ण के मंदिर में भी एकाकी रह के सुख से कुछ काल रह सकता है। ऐसी-ऐसी बातों को देख सुन, सोच-समझ के भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव में फंस के पंच के विरुद्ध हो बैठते हैं, अथवा द्वेषियों का पक्ष समर्थन करने लगते हैं वे हम नहीं जानते कि, परमेश्वर, प्रकृति, दीन, ईमान, धर्म कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुंह दिखाते होंगे ? हमने माना कि थोड़े से हठी, दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा, मिलनी संभव है, पर इसके साथ अपनी अंतरात्मा (कान्शेन्स) के गले पर छुरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है, और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है। यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते-जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दूर्नाम, अपकीर्ति एवं संतान के लिए लज्जा तो कहीं गयी ही नहीं। क्योंकि पंच का बैरी परमेश्वर का बैरी है, और पर-मेश्वर के बैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—

राखि को सकै राम कर द्रोही।

पाठक ! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़ों बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है। अतः आंखे पसार के देखो कि तुम्हारे जीवन काल में पढ़े-लिखे दृष्टिवाले पंच किस ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किये हुये मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता और अकृत्रिमता से जा रहे हैं

कि थोड़े से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, बरंच लाठी तक खाके हतोत्साह नहीं होते, और स्त्री-पुरुष, धन-जन क्या, बरंच आत्म-विसर्जन तक का उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का अव-लंबन करना मंगलदायक न होगा ? यदि बहकानेवाले रोचक और भयानक बातों से लाख बार, करोड़ प्रकार समझावें तो भी ध्यान न देना चाहिये। इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पंच ही का अनुकरण परम कर्त्तव्य है। क्योंकि पंच और परमेश्वर का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रख के पंच के अनुकूल मार्ग पर चले जाइये तो दो ही चार मास में देख लीजियेगा कि बड़े-बड़े लोग आपके साथ बड़े स्नेह से सहानुभूति करने लगेंगे, और बड़े-बड़े विरोधी साम, दाम, दंड, भेद से भी आपका कुछ न कर सकेंगे। क्योंकि सबसे बड़े पर-मेश्वर हैं, और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े बड़े अधिकार पंच महोदय को दे रक्खे हैं। अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपापात्र का कभी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सकता। इससे चाहिए कि इसी क्षण भगवान् पंच-वक्त्र का स्मरण करके पंच परमेश्वर के हो रहिये तो सर्वदा पंच-पांडव की भांति निश्चिन्त रहियेगा।

४—न्याय-घण्टा

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

[गुलेरी जी का जन्म विक्रमी संवत् १९४० में जयपुर में हुआ था। पूर्वज काँगड़ा प्रान्त (पंजाब) के गुलेर स्थान के रहने वाले थे। बचपन से ही प्रतिभा सम्पन्न और होनहार थे। १९ वर्ष ही की उम्र में जयपुर के मान-मंदिर के जीर्णोद्धार में सहायता की और सम्राट् सिद्धान्त जैसे ज्योतिष ग्रन्थ का सफल अनुवाद किया। भाषा-विज्ञान, लिपि-विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास-पुरातत्त्व के अपने समय के अधिकारी विद्वान थे। संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी तीनों भाषाओं में लिखा है। 'समालोचक' नाम का एक पत्र भी निकालते थे। ३९ वर्ष की अल्पायु में दिवंगत हुए।

विषय की प्रौढ़ता, तात्विकता और विविधता आपकी कृतियों की विशेषता है। भाषा सजीव, मुहावरेदार, संकेतमय, एवं वक्रता लिये रहती है। समस्त हिन्दी कृतियाँ चार कोटियों में विभक्त की जा सकती हैं—इतिहास, भाषा, कहानियाँ और आलोचना। आपकी 'उसने कहा था' कहानी हिन्दी साहित्य की अमर निधि है। 'गुलेरी ग्रन्थ' प्रथम खण्ड, वैज्ञानिक निबन्धों का एक संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत निबन्ध में विविध शासन कालों में न्याय दान के ढंग को ऐतिहासिक गवेषणा की गई है। शैली सरल, सुबोध और मनोरंजक है।]

राजतरंगिणी में राजा हर्ष (ई० सं० १०८९-११०१) के वर्णन में लिखा है कि उसने अपने महल के सिंहद्वार पर चारों ओर बड़े बड़े चार घंटे बँधवा दिए जिससे उनके बजने से वह विज्ञप्ति (प्रार्थना) करना चाहनेवालों का आना जान जाय। जानकर तथा उनकी दुखिया बानी सुन कर वह उनकी तृष्णा ऐसे हटाता जैसे बरसाती मेघ चातकों की।[1]

प्रबंधचिंतामणि में एक कथा है कि चौड (=? चोड, चोल, या गौड) देश में गोवर्धन नामक राजा के यहाँ सभामंडप के सामने लोहे के स्तंभ पर न्यायघंटा था जिसे न्याय चाहनेवाला बजा दिया करता। एक समय उसके एकमात्र पुत्र ने रथ पर चढ़ कर जाते समय जान-बूझ कर एक बछड़े को कुचल दिया। बछड़े की माता (गौ) ने सींग अड़ा कर घंटी बजा दी। राजा ने सब हाल पूछ कर अपने न्याय को परम कोटि पर पहुँचाना चाहा। दूसरे दिन सबेरे स्वयं रथ पर बैठ राह में अपने प्यारे इकलौते पुत्र को लिटा कर उस पर रथ चलाया और गौ को दिखा दिया। राजा के सत्व और कुमार के भाग्य से कुमार मरा नहीं।[2]

जिनमंडनमणि ने कुमारपाल प्रबंध में लिखा है कि कुमारपाल ने राजसिंह द्वार पर न्याय घंटे बँधवाए थे।[3]

अमीर खुसरो अपने नुह सिपिहर अर्थात् नवचक्र नामक फारसी ग्रंथ में जो कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (तख्तनशीनी सन् हिजरी ७१६, ई० १३१६ ई०) के समय में बना था लिखता है कि मैंने यह कथा सुनी है कि दिल्ली में पाँच या छै सौ वर्ष पहले अनंगपाल नामी एक बड़ा राय था। उसके महल के द्वार पर पत्थर के दो सिंह थे। इन सिंहों के पास उसने एक घंटी लगवाई

१—राज [illegible] ०

२—प्रबंधचिंतामणि पृ० २८५।

३—आत्मानंद सभा का संस्करण, पृ० ६० (२)

कि जो न्याय चाहें उसे बजा दें जिस पर राय उन्हें बुलाता, पुकार सुनता और न्याय करता। एक दिन एक कौआ आकर घंटी पर बैठा और घंटी बजाने लगा। राय ने पूछा कि इसकी क्या पुकार है। यह बात अनजानी नहीं है कि कौए सिंह के दाँतों में से मांस निकाल लिया करते हैं। पत्थर के सिंह शिकार नहीं करते तो कौए को अपनी नित्य जीविका कहाँ से मिले? राय को निश्चय हुआ कि कौए की भूख की पुकार सच्ची है, क्योंकि वह उसके पत्थर के सिंहों के पास आन बैठा था। राय ने आज्ञा दी कि कई भेड़े बकरे मारे जायँ जिससे कौए को कई दिन का भोजन मिल जाय।[१]

इब्नबतूता सुलतान अलतमश के वर्णन में लिखता है कि उसने आज्ञा दी कि जिस किसी पर अन्याय हुआ हो वह रंगीन कपड़े पहना करे। इस देश में लोग सफेद कपड़े पहनते हैं। इससे जब सुलतान का दरबार होता या वह बाहर जाता और किसी को रंगीन कपड़े पहने देखता तो उसकी पूछ-ताछ करता और सताने वाले से उसे न्याय दिलवाता। किंतु सुलतान इस उपाय से प्रसन्न नहीं हुआ। सोचा कि कुछ लोगों पर रात को अन्याय होता है, मैं उनका भी निस्तार करना चाहता हूँ। इसलिए उसने दरवाजे पर दो संगमर्मर के सिंह ऊँची चौकियों पर स्थापित किए। इनके गले में एक जंजीर थी जिसमें एक बड़ा घंटा लटक रहा था। अन्याय के सताए रात को आकर

१—इलियड, जिल्द ३, पृ० ५६५। महाभारत में कुलिंग-शकुनि, कलिंगशकुनि या भूलिंगशकुनि (भू पक्षी) का दृष्टांत कई जगह दिया है कि वह कहा तो करता है, 'मा साहसं, मा साहसं'—साहस मत करो, किंतु स्वयं इतना साहस करता है कि शेर की दाढ़ में से मांस क टुकड़े निकाल कर खाता है। 'पर उपदेश कुशल' लोगों पर इस पक्षी का दृष्टांत दिया है 'न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति। प्रकृतिं यान्ति भूतानि कुलिंगशकुनिर्यथा'। हेमचंद्र ने परिशिष्ट पर्व में इसे 'मासाहसपक्षी' कहा है।

घंटा बजाते, सुलतान सुन कर झट पूछ-ताछ करता और पुकारू को संतुष्ट करता[१]।

सुलैमान सौदागर जो भारत और चीन में पहला मुसलमान यात्री था, और जिसकी यात्रा का विवरण हिजरी सन् २३८ (ई० सन्० ८५१) के समीप का है, चीन के वर्णन में लिखता है—हर एक शहर में एक छोटी घंटी होती है जो राजा के या शासक के (बैठने के स्थान में) सिर पर दीवाल के बँधी होती है। इसके बजानेके लिए लगभग तीन मील लंबी डोर बाजार पर से जाती है कि लोग उसे पहुँच सकें। जब डोरी खिंचती है तब शासक के सिर पर घंटी बजती है और वह झटपट आज्ञा देता है कि जो मनुष्य यों न्याय के लिए पुकार रहा है वह मेरे पास लाया जावे। पुकारू स्वयं अपनी दशा और अन्याय का विवरण कहता है। यही चाल सब सूबों में है।[२]

बीकानेर[३] के राजा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज का हाल सुनने से अकबर के समय में भी ऐसी जंजीर का होना पाया जाता है। पृथ्वीराज ने, जो बड़े कवि थे, यह छप्पय लिख कर गाय के गले में बाँध दिया था—

अधर धरत त्रिण मुख्य ताहि कोऊ नहिं मारत।
सो हम निस दिन चरत बैन दुरबल उच्चारत।।
सदा खीर घृत झरत मोर सुत पृथ्वी बसावत।
कहा तुरकन को कटु कहा हिंदुन मधु पावत।।
हम नगार पनही हमहि गलो कटावत हम दिए।
पुक्कार अकब्बर साह सों कहा खून हमने किए।।

१—इलियड, जिल्द २ पृ० ५९१।

२—रेनादो का अनुवाद; सन् १७३३ का छपा, पृ० २५।

३—यहाँ से लेख के अंत तक का विषय मुंशी देवीप्रसाद जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

वह फिरती फिरती बादशाह के महल के नीचे आकर स्वभाव से अदालत की जंजीर से सिर मारने लगी और घंटे बजने लगे। बादशाह फरियादी का आना जान निकल आए और कागज पढ़ कर उन्हें ऐसी करुणा आई कि गोवध की मनाई कर दी गई।

पूरब के कवि इसी छप्पय के शब्दों में कुछ फेर-बदल कर इसे नरहरि कवि की रचना कहते हैं जो उसने गाय के सींगों से बाँध दी थी।

सम्राट् जहाँगीर की जंजीर अदालत का प्रमाण तुजुक जहाँगीरी से मिलता है। वहाँ जहाँगीर लिखता है[1] कि तख्त पर बैठते ही पहला हुक्म जो मैंने दिया वह इनसाफ की जंजीर बाँधने का था; जो अदालत के मुत्सद्दी जुल्म से सताए हुए लोगों की फरियाद को पहुँचाने और जाँच करने में सुस्ती और ढील करें तो वे लोग इस जंजीर को हिला दें जिससे खबर हो जावे और वह इस तौर पर बनाई गई कि मैंने हुक्म दिया कि ४ (ईरान के ३२) मन खरे सोने की ३० गज लंबी जंजीर बनावें जिसमें ६० घंटे लगे हों, उसका एक सिरा तो किले की शाह बुर्ज से लगाया और दूसरा दरिया (यमुना) के किनारे तक ले जाकर एक पत्थर की लाट पर गाड़ा गया।

हिंदी तारीख चगत्ता में जो जयपुरी बोली में जयपुर के महाराज माधोसिंहजी (पहले) की आज्ञा से बनाई गई थी और जिसकी प्रति टोंक के पंडित रामकर्ण जी के पास थी, मुंशी देवीप्रसाद जी ने जहाँगीर के इंनसाफ की यह कथा पढ़ी थी। एक गाय ने जंजीर हिलाई और बादशाह ने उसे देख कर साथ में एक सिपाही कर दिया। गाय सिपाही को एक पठान के घर ले गई जिसने कि उसका बछड़ा मार डाला था। सिपाही पठान को बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने उसके हाथ पाँव बँधवा कर उसे गाय के सामने डलवा दिया और गाय ने उसे सींगों से मार डाला।

१—जिल्द १ पृ० ५।

शायद उसी किताब में यह कथा भी है कि एक बार एक ऊँट ने जंजीर हिलाकर घंटी बजा दी। बादशाह ने उसकी पीठ छिली हुई और लोहू-लुहान देख कर ऊँट वाले से कहा कि अगर अब छः मन से ज्यादा बोझ लादा तो सजा मिलेगी और उस दिन से ऊँट पर छः मन से ज्यादा बोझ न लादने का कानून बन गया।

५—कवि-शिक्षा

महावीर प्रसाद द्विवेदी

[जन्म सम्वत् १९२७ और देहावसान संवत् १९९५ सन् १९०३ में 'सरस्वती' का सम्पादन भार संभाला तब से पूरा समय लिखने में ही लगाया। आपके प्रायः सभी निबन्ध विचारात्मक श्रेणी में आते हैं; पर विचारों की गूढ़ गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग इस तरह नपे तुले ढंग से किया गया है मानो वाद-विवाद में प्रतिपक्षी को बहुत ही शान्त हो कर समझा रहे हों।

द्विवेदीजी ने हिन्दी भाषा का परिष्कार किया, और अपने जीवन काल में लेखकों और कवियों की एक पूरी पौध ही तैयार कर दी। अधिकांश लेखकों और कवियों की रचनाओं में आमूल परिवर्तन कर दिया करते थे।

प्रस्तुत निबन्ध हिन्दी साहित्य जगत् की स्थायी निधि है। कवि बनने के लिए पाँच आवश्यक बातों पर इसमें विस्तार के साथ चर्चा की गई है। विषय शास्त्रीय होते हुए भी कहीं जटिलता नहीं आने पाई है।

रसज्ञ रंजन, शिक्षा, बेकन विचार रत्नावली, आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। साहित्य स्रष्टा की अपेक्षा साहित्यिकों के निर्माता और भाषा-व्यवस्थापक के रूप में ही आपका महत्त्व अधिक है।]

विक्रम के ग्यारहवें शतक में काश्मीर में अनन्तदेव नामक एक राजा था। उसके शासन-समय में क्षमेन्द्र नामक एक महाकवि हो गया है। वह बहुश्रुत, बहुज्ञ और बहुदर्शी विद्वान था। उसकी प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण

थो। उसने 'कवि-कराठाभरण' नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। उसमें आपने बतलाया है कि किन साधनों से मनुष्य कवि हो सकता है और किस तरह उसकी तुकबन्दी कविता कहलायी जाने योग्य हो सकती है। क्षेमेन्द्र खुद भी महाकवि था अतएव उसके बताये हुए साधन अवश्य ही बड़े महत्व के होने चाहिए। यही समझ कर हम अपने हिन्दी के कवियों के जानने के लिए क्षेमेन्द्र के निर्दिष्ट साधनों का थोड़े में उल्लेख करते हैं।

कवि होने के लिए पाँच बातें अपेक्षित हैं। वे पाँच बातें ये हैं--

(१) कवित्व शक्ति, (२) शिक्षा, (३) चमत्कारोत्पादन, (४) गुण दोष-ज्ञान तथा (५) परिचय-चारुता।

अब इन पाँचों का संक्षिप्त विवेचन सुनिए--

किसी किसी में कवित्व शक्ति बीज रूप से रहती है। उसे अंकुरित करना पड़ता है। जिसमें वह नहीं होती वह अच्छा कवि नहीं हो सकता। कवित्व -शक्ति को जागरित करने के दो उपाय हैं--दिव्य और पौरुषेय।

सरस्वती देवी के क्रिया-मातृका मन्त्र का जप करना, उसकी मूर्ति का ध्यान करना और उसके मन्त्र का पूजन करना इत्यादि दिव्य उपाय हैं। पौरुषेय उपाय यह है कि किसी अच्छे कविको गुरु बना कर उससे यथाविधि काव्य-शास्त्र का अध्ययन करना।

कवि बनने की इच्छा से काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वाले शिष्य तीन प्रकार के होते हैं--अल्प-प्रयत्न-साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य।

थोड़े ही अध्ययन से जो सफल मनोरथ हो जायँ वे अल्प-प्रयत्न साध्य, अध्ययन में विशेष परिश्रम करने से जिन्हें इष्ट लाभ हो वे कृच्छ्र-साध्य, जो बरसों सिर पीटने पर भी कुछ न कर सकें वे असाध्य समझे जाते हैं।

अल्प प्रयत्न-साध्य शिष्यों के कर्त्तव्य सुनिये।

ऐसे पुरुषों को चाहिए कि वे किसी अच्छे साहित्य-ज्ञाता कवि से अध्ययन करें। जो केवल तार्किक या वैयाकरण हो उससे सदा दूर रहें। जो सरस

हृदय हो, स्वयं कवि हो, व्याकरण भी जानता हो, छन्दोग्रन्थों का भी पारगामी हो उसे गुरु बनाना चाहिए। अच्छे अच्छे काव्यों को उसके मुख से सुनना चाहिए। गाथा, प्राकृत तथा अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं के पद्यों का भी सावधान श्रवण करना चाहिए। चमत्कारपूर्ण उक्तियों के विषय में चर्चा करनी चाहिए। प्रत्येक रस के आस्वादन में तन्मनस्क हो जाना चाहिए। जहाँ जिस गुणका प्रकर्ष हो वहाँ अभिनन्दन करके आनन्दित होना, विवेक-वृद्धि द्वारा भले बुरे काव्य को पहिचानने की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा करते-करते कुछ दिनों में कवित्व-शक्ति अंकुरित हो उठती है और उस शक्ति से सम्पन्न होने पर कविता करने की योग्यता आ जाती है।

कृच्छ्र साध्य जनों को चाहिए कि कालिदास आदि सत्कवियों के सारे प्रबन्धों को आद्यन्त पढ़ें और खूब विचार पूर्वक पढ़ें। इतिहासों का भी अध्ययन करें। तार्किकों से दूर ही रहें। कविता के मधुर सौरभ को उनसे नष्ट होने से बचाते रहें। अभ्यास के लिए कोई नया पद्य लिखें तो महा-कवियों की शैली को सदा ध्यान में रक्खें। पुराने कवियों के श्लोकों के पद और वाक्य आदि को निकाल उनकी जगह पर अपने बनाये पाद, पद और वाक्य रखें। अभ्यास बढ़ाने के लिए वाक्यार्थ-शून्य पद्य बनावें। कभी-कभी अन्य कवियों की रचना में फेर-फार कर के कुछ अपना, कुछ उनका रख कर, नूतन अर्थ का समावेश करने की चेष्टा करें।

जो लोग किसी बड़े रोग से पीड़ित हैं, व्याकरण और तर्कशास्त्र के सतताभ्यास से जिनकी सहृदयता नष्ट हो गई है अतएव सुकवियों की कविता सुनने से भी जिन्हें कुछ भी आनन्द नहीं प्राप्त होता, उन्हें असाध्य समझना चाहिए। उनका हृदय पत्थर के समान कड़ा हो जाता है; उसकी कोमलता बिलकुल ही जाती रहती है।

न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

उसे चाहे कैसा ही अच्छा गुरु क्यों न मिले और चाहे कितनी ही अच्छी शिक्षा क्यों न दी जाय वह कवि नहीं हो सकता। सिखलाने से भी क्या गधा कभी गीत गा सकता है और हजार दफे सिखलाने से भी क्या अन्धा कभी सूर्य्य को देख सकता है ?

कवित्व-शक्ति स्फूर्ति हो जाने पर क्या करना चाहिए—किस तरह की शिक्षा से उसकी प्रखरता को बढ़ाना चाहिए। सो भी सुनिए !

शिक्षा

प्राप्त-कवित्व-शक्ति कवि को चाहिए कि वह वृत्त पूरण का उद्योग करे; समस्या पूर्ति करे; दूसर की कविताओं का पाठ किया करे; सत्कवियों की संगति करे, महाकवियों के काव्यार्थ का विचार किया करे; प्रसन्न चित्त रहे, अच्छे वेश में रहा करे, नाटकों का अभिनय देखे, गाना सुनने का शौक रखे; लोकाचार का ज्ञान प्राप्त करे; इतिहास देखे; चित्रकारों के अच्छे अच्छे चित्रों और शिल्पियों के अच्छ अच्छे शिल्पकार्यों का अवलोकन करे; वीरों का युद्ध देखे; श्मशान में और अरण्य में घूमे और आर्त्त तथा दुखी मनुष्यों के शोक-प्रलाप पूर्ण वचन सुने। इन सब बातों से शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए बहुत जरूरी है।

परन्तु इतनी ही शिक्षा इति नहीं। और भी उसे बहुत कुछ करना चाहिए। उसे मीठा और स्निग्ध भोजन करना चाहिए; धातुओं को सम रखना चाहिए; दिन में कुछ सो लेना चाहिए; कभी शोक न करना चाहिए; थोड़ी रात रहे जाग कर अपनी प्रतिभा को प्रखर करना चाहिए ! उस समय कुछ कविता करनी चाहिए; प्राणियों के स्वभाव की परीक्षा करनी चाहिए, समुद्र तट और पर्वतों की सैर करनी चाहिए; सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों के स्थान और उनकी गति आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सभी ऋतुओं की विशेषता और उनका भेद समझना चाहिए। सभाओं में जाना चाहिए; एक बार लिखी हुई कविता का संशोधन दो तीन दफे कर के उसे खूब परिमार्जित करना चाहिए।

सुकवि होने की इच्छा रखनेवाले के लिए अभी और भी बहुत से काम हैं। उसे पराधीनता में रहना चाहिए; अपने उत्कर्ष पर गर्व न करना चाहिए; पराये उत्कर्ष को सहने की आदत डालनी चाहिए; दूसरे की श्लाघा सुनकर उसका अभिनन्दन करना चाहिए; अपनी श्लाघा सुनने में संकोच करना चाहिए, व्युत्पत्ति के लिए—शिक्षा या विद्या वृद्धि के लिए सब की शिष्यता स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए, सन्तुष्ट रहना चाहिए, सत्यशील बनना चाहिए, किसी से याच्ञान करनी चाहिए; ग्राम्य और अश्लील बात मुँह से न निकालनी चाहिए, निर्विकार रहना चाहिए, गाम्भीर्य धारण करना चाहिए, दूसरों के द्वारा किये गये आक्षेप सुनकर बिगड़ना न चाहिए और किसी के सामने दीनता न दिखानी चाहिए।

इन शिक्षाओं या उपदेशों पर विचार करने से पाठकों को मालूम होगा कि कवि-कर्म कितना कठिन है। विधाता की सारी सृष्टि का ज्ञान कवि को होना चाहिए—लोक में जो कुछ है सबसे उसे अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों को खुद देखना चाहिए और प्राणियों के स्वभाव से भी उसे परिचित होना चाहिए। ये सब बातें इतने समय कौन करता है ? फिर कहिए, कोई कवि कैसे हो सकता है ? पिंगल पढ़ लेने से यदि कोई कवि हो सकता है तो आजकल कवि गली-गली मारे-मारे फिरते। तुकबन्दी करना और चीज है कविता करना और चीज।

शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है—

चमत्कार

नहि चमत्कार विरहितस्य कवेः काव्यस्य वा काव्यत्वम्"

यदि कवि में चमत्कार पैदा करने की शक्ति नहीं तो वह कवि कवि

नहीं, और यदि चमत्कारपूर्ण नहीं तो काव्य का काव्यत्व भी नहीं अर्थात जिस गद्य या पद्य में चमत्कार नहीं वह काव्य या कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सकता ।

एकेन केनचिदनर्घ मणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम् ।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमंगनानाम् ।।

काव्य चाहे कैसा ही निर्दोष क्यों न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न हों––यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कारपूर्ण पद न हुआ तो वह स्त्रियों के लावण्यहीन यौवन के समान चित्त पर नहीं चढ़ता ।

कविता में चमत्कार लाना लाख पिंगल पढ़ने और रस, ध्वनि तथा अलंकारादि के निरूपक ग्रन्थों के पारायण से संभव नहीं। उसके लिए प्रतिभा, साधन, अभ्यास, अवलोकन और मनन की जरूरत होती है । पिंगल आदि का पढ़ना एक बहुत ही गौण बात है ।

एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है––तुम खूब फूल रहे हो, लताएँ तुम पर बेतरह छाई हुई हैं; कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं, भ्रमर के समूह जहां तहां गुंजार रहे हैं। परन्तु मझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं । अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं ।

इस उक्ति में कोई विशेषता नहीं––इनमें कोई कमत्कार नहीं । अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती । अब एक चमत्कारपूर्ण उक्ति सुनिए । कोई वियोगी रक्ताशोक को देखकर कहता है––नवीन पत्तों से तुम रक्त (लाल) हो रहे हो, प्रियतमा के प्रशंसनीय गुणों से मैं भी रक्त हूँ। तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं, मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (वाण) आ रहे हैं। कान्ता के चरणों का स्पर्श

तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है, उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है, अतएव हमारी तुम्हारी दोनों की अवस्था में पूरी पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक। इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आ गया है। उसने 'अनमोल रत्न' का काम किया यह चमत्कार किसी पिंगल पाठ का प्रसाद नहीं और न किसी काव्यांग विवेचक ग्रन्थ के नियम परिपालन का ही फल है।

उस दिन हम एक महायात्रा में कुछ लोगों के साथ गंगातट तक गए थे। यात्री की मृत्यु पंचक में थी शव चिता पर रखा गया। अग्नि-संस्कार के समय एक लकड़ी खिसकी। इससे शव का सिर हिल गया। इस पर एक आदमी बोला——लकड़ी खिसकने से सिर हिल गया। यह सुनकर दूसरा बोल उठा——नहीं, नहीं अमुक चाचा सिर हिला कर मना कर रहे हैं कि अग्नि संस्कार न करो, हम धनिष्टा पंचक में मरे हैं। यह उक्ति यद्यपि एक ग्रामीण की है तथापि इसमें चमत्कार है। कवि को ऐसे ही चमत्कार लाने का उद्योग करना चाहिए।

काव्य के पांच प्रकार हैं——सगुण, निर्गुण, सदोष, निर्दोष और गुण-दोष-मिश्रित। गुण तीन प्रकार के हैं——शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य और रस वमल्य। दोष भी तीन प्रकारके हैं शब्द कालुष्य, अर्थ कालुष्य, रस कालुष्य। इन सब के लक्षण इनके नाम ही से व्यक्त हैं।

गुण-दोष ज्ञान

कवि को निर्दिष्ट दोषों से बचने का यत्न करना चाहिए। परन्तु बचेगा उनसे वही जो उन्हें जानता होगा। अतएव कविता विषयक गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त करना भी कवि के लिए आवश्यक है।

परिचय-चारुता

कवि को सब शास्त्रों, सब विद्याओं और सब कलाओं आदि से परिचित होना चाहिए। क्षमेन्द्र की आज्ञा है कि तर्क, व्याकरण, नाट्य शास्त्र, काम-

शास्त्र, राजनीति, महाभारत, रामायण, वेद, पुराण, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज-तुरंग, पुरुष-परीक्षा, इन्द्रजाल आदि सब विषयों का ज्ञान कवि को संपादन करना चाहिए। कवियों को पद-पद पर उनसे काम पड़ता है। जो इनसे परिचय नहीं रखता वह बहुश्रुत नहीं हो सकता और उसे विद्वानों की सभा में आदर नहीं मिल सकता।

६—शिवशंभु का चिट्ठा

बालमुकुन्द गुप्त

[बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुरयानी गाँव में सं० १९२२ में और मृत्यु संवत् १९६४ में हुई। आप अपने समय के सब से अनुभवी, कुशल और निर्भीक सम्पादक थे। दो उर्दू पत्रों का सम्पादन करने के पश्चात् कलकत्ते के 'बंगवासी' और अन्त में 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक बने। बड़े विनोदशील लेखक थे और साहित्यिक नोक-झोंक में इन्हें मजा आता था। आचार्य द्विवेदी जी के एक लेख पर चुहलबाजी से भरी पूरी लेखमाला ही लिख डाली थी। पत्र संपादन के अतिरिक्त कई विषयों पर अच्छे निबन्ध भी लिखे हैं, जो 'गुप्त निबंधावली' के नाम से छपे हैं।

भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। गुप्तजी ने अपने समय की सामयिक और राजनैतिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरंजक लेख लिखे हैं, जिनमें 'शिवशंभु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है। इसमें सामाजिक व्यंग बड़ा तीखा और राजनैतिक चेतना-सम्पन्न प्रतीत होता है। छोटे वाक्य और चित्रमयी शैली की छटा यहाँ बड़ी ही निराली है। जनहित की भावना बार-बार उभर कर ऊपर आती है। और पता चलता है कि उस समय के लेखकों में कितनी घुटन, असन्तोष और विद्रोह था।]

माई लार्ड ! लड़कपन में इस बूढ़े भंगड़ को बुलबुल का बड़ा चाव था। गाँव में कितने ही शौकीन बुलबुल बाज थे। वह बुलबुलें पकड़ते थे पालते थे और लड़ाते थे। बालक शिवशंभु शर्मा बुलबुल लड़ाने का चाव नहीं रखता था। केवल एक बुलबुल को हाथ पर बिठाकर ही प्रसन्न होना

चाहता था। पर ब्राह्मण-कुमार को बुलबुल कैसे मिले ? पिता को यह भय कि बालक को बुलबुल दो तो वह मार देगा, हत्या होगी, अथवा उसके हाथ से बिल्ली छीन लेगी तो पाप होगा। बहुत अनुरोध से यदि पिता ने किसी मित्र की बुलबुल किसी दिन ला भी दी, तो वह एक घंटे से अधिक नहीं रहने पाती थी। वह भी पिता की निगरानी में।

सराय के भटियारे बुलबुलें पकड़ा करते थे। गांव के लड़के उनसे दो-दो तीन-तीन पैसे में खरीद लाते थे। पर बालक शिवशंभु तो ऐसा नहीं कर सकता था। पिता की आज्ञा बिना वह बुलबुल कैसे लावे और कहां रक्खे ? उधर मन में अपार इच्छा थी कि बुलबुल जरूर हाथ पर हो। इसी से जंगल में उड़ती बुलबुल को देखकर जी फड़क उठता था। बुलबुल की बोली सुनकर आनन्द से हृदय नृत्य करने लगता था। कैसी-कैसी कल्पनाएं हृदय में उठती थीं। उन सब बातों का अनुभव दूसरों को नहीं हो सकता। दूसरों को क्या होगा, आज यह वही शिवशम्भु है, स्वयं इसी को उस बालकाल के अनिर्वचनीय चाव और आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता।

बुलबुल पकड़ने की नाना प्रकार की कल्पनाएं मन-ही-मन में करता हुआ बालक शिवशम्भु सो गया। उसने देखा कि संसार बुलबुल मय है। सारे गांव में बुलबुलें उड़ रही थीं। अपने घर के सामने खेलने का जो मैदान है, उसमें सैकड़ों बुलबुलें उड़ती फिरती हैं। फिर वह सब ऊंची नहीं उड़तीं। बहुत नीची-नीची उड़ती हैं। उनके बैठने के अड्डे भी नीचे-नीचे हैं। वह कभी उड़कर इधर जाती हैं और कभी उधर, कभी यहां बैठती हैं और कभी वहां, कभी स्वयं उड़कर बालक शिवशंभु के हाथ की उंगलियों पर आ बैठती है। शिवशम्भु आनन्द में मस्त होकर इधर-उधर दौड़ रहा है। उसके दो-तीन साथी भी उसी प्रकार बुलबुलें पकड़ते और छोड़ते इधर-उधर कूदते फिरते हैं।

आज शिवशंभु की मनो-वांछा पूर्ण हुई। आज उसे बुलबुलों की कमी नहीं है। आज उसके खेलने का मैदान बुलबुलिस्तान बन रहा है। आज

शिवशम्भु बुलबुलों का राजा ही नहीं, महाराजा है। आनन्द का सिलसिला यहीं कहीं टूट गया। शिवशम्भु ने देखा कि सामने एक सुन्दर बाग है। वहीं से सब बुलबुलें उड़कर आती हैं। बालक कूदता हुआ दौड़कर उसमें पहुँचा। देखा, सोने के पेड़-पत्ते और सोने ही के नाना रंग के फूल हैं। उन पर सोने की बुलबुलें बैठी गाती हैं। और उड़ती फिरती हैं। वहीं एक सोने का महल है। उस पर सैकड़ों सुनहरी कलश हैं। उन पर भी बुलबुलें बैठी हैं। बालक दो-तीन साथियों सहित महल पर चढ़ गया। उस समय वह सोने का बगीचा, सोने के महल और बुलबुलों सहित एक बार उड़ा। सब कुछ आनन्द से उड़ता था। बालक शिवशम्भु भी दूसरे बालकों सहित उड़ रहा था। पर यह आमोद बहुत देर तक सुखदायी नहीं हुआ। बुलबुलों का खयाल अब बालक के मस्तिष्क से हटने लगा। उसने सोचा—हैं! मैं कहाँ उड़ा जाता हूँ? माता-पिता कहाँ? मेरा घर कहाँ? इस विचार के आते ही सुख स्वप्न भंग हुआ। बालक कुलबुलाकर उठ बैठा। देखा और कुछ नहीं, अपना ही घर और अपनी ही चारपाई है। मनोराज्य समाप्त हो गया।

आपने माई लार्ड! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है? खाली अपना खयाल ही पूरा किया है या यहां की प्रजा के लिए भी कुछ कर्तव्य पालन किया? एक बार ये बातें बड़ी धीरता से मनमें विचारिए। आपकी भारत में स्थिति की अवधि के पाँच वर्ष पूरे हो गए। अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में, मूल-धन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिये, नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन-सी कर चले हैं और भड़कबाजी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा है? इस बार के बजट की वक्तृता ही आपके कर्तव्य काल की अंतिम वक्तृता थी। जरा उसे पढ़ तो जाइए। फिर उसमें आपकी पांच साल की किस अच्छी करतूत का वर्णन है? आप बारंबार अपने दो अति तुम-तराक से भरे कामों

का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया-मेमोरियल हाल और दूसरा दिल्ली दरबार। पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी' ? विक्टोरिया मेमोरियल हाल चन्द पेट भरे अमीरों के एक-दो बार देख आने की चीज होगी। उससे दरिद्रों का कुछ दुःख घट जावेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जावेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।

अब दरबार की बात सुनिए कि क्या था। आपके खयाल से यह बहुत बड़ी चीज थी। पर भारतवासियों की दृष्टि में वह बुलबुलों के स्वप्न से बढ़कर कुछ न था। जहां-जहां से यह जुलूस के हाथी आये, वहीं-वहीं सब लौट गये। जिस हाथी पर आप सुनहरी झूलें और सोने का हौदा लगवाकर छत्र धारण पूर्वक सवार हुए थे, वह अपने कीमती असबाब सहित जिसका था, उसके पास चला गया। आप भी जानते थे कि वह आपका नहीं और दर्शक भी जानते थे कि आपका नहीं। दरबार में जिस सुनहरी सिंहासन पर विराजमान होकर आपने भारत के सब राजा-महाराजाओं की सलामी ली थी, वह भी वहीं तक था और आप स्वयं भली भांति जानते हैं कि वह आपका न था। वह भी जहां से आया था, वहीं चला गया। यह सब चीजें खाली नुमायशी थीं। भारतवर्ष में वह पहले ही से मौजूद थीं। क्या इन सबसे आपका कुछ गुण प्रकट हुआ ? लोग विक्रम को याद करते हैं या उसके सिंहासन को, अकबर को या उसके तख्त को ? शाहजहां की इज्जत उसके गुणों से थी या तख्ते ताउस से ? आप जैसे बुद्धिमान के लिए यें सब बातें विचारने की हैं।

चीज वह बननी चाहिए, जिसका कुछ देर कयाम हो। माता-पिता की याद आते ही बालक शिवशम्भु का सुखस्वप्न भंग हो गया। दरबार समाप्त होते ही वह दरबार-भवन, वह एंफी थियेटर, तोड़कर खरीदने की वस्तु हो गया। उधर बनाना, इधर उखाड़ना पड़ा। नुमायशी चीजों का यही परिणाम है। उनका तितलियों का-सा जीवन होता है। माई लार्ड ! आपने कथाड़ के चायवाले साहबों की दावत खाकर कहा था कि यह लोग

यहां नित्य हैं और हम लोग कुछ दिन के लिए। आपके वह "कुछ दिन" बीत गए। अवधि पूरी हो गई। अब यदि कुछ दिन और मिलें, तो वह किसी पुराने पुण्य के बल से समझिए। उन्हीं की आशा पर शिवशम्भु शर्मा यह चिट्ठा आपके नाम भेज रहा है। जिससे इन मांगे दिनों में तो एक बार आपको अपने कर्तव्य का खयाल हो।

जिस पद पर आप आरूढ़ हुए, वह आपका मौरूसी नहीं। नदी-नाव संयोग की बात है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपका इससे कुछ संबंध रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथ में शक्ति है, उतने दिन कुछ करनेकी शक्ति भी है। जो आपने दिल्ली आदि में कर दिखाया, उसमें आपका कुछ भी न था, पर वह सब कर दिखाने की शक्ति आप में थी। उसी प्रकार जाने से पहिले, इस देश के लिए कोई असली काम कर जाने की शक्ति आपमें है। इस देशकी प्रजाके हृदय में कोई स्मृति-मन्दिर बना जाने की शक्ति आपमें है। पर यह सब तब हो सकता है कि जब वैसी स्मृति की कुछ खबर आपके हृदय में भी हो। स्मरण रहे, धातु की मूर्तियों के स्मृति-चिन्ह से एक दिन क़िले का मैदान भर जायगा। महारानी का स्मृति-मन्दिर मैदान की हवा रोकता था या न रोकता था, पर दूसरों की मूर्तियां इतनी हो जावेंगी कि पचास-पचास हाथ पर हवा को टकराकर चलना पड़ेगा। जिस देश में लार्ड लैंसडोन की मूर्ति बन सकती है, उसमें और किस किस की मूर्ति नहीं बन सकती? माई लार्ड! क्या आप भी चाहते हैं कि उसके आस पास आपकी भी एक वैसी ही मूर्ति खड़ी हो?

यह मूर्तियाँ किस प्रकार से स्मृति-चिन्ह हैं? इस दरिद्र देश के बहुत से धन की एक ढ़ेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती। एक बार जाकर देखने से ही विदित होता है कि वह कुछ विशेष पक्षियों के कुछ देर विश्राम लेने के अड्डे से बढ़कर कुछ नहीं है। माई लार्ड! आपकी मूर्ति की वहाँ क्या शोभा होगी? आइए, मूर्तियाँ दिखावें। वह देखिए, एक मूर्ति है,

जो किले के मैदान में नहीं है, पर भारतवासियों के हृदय में बसी हुई है। पहचानिये, इस वीर पुरुष ने मैदान की मूर्ति से इस देश के करोड़ों गरीबों के हृदय में मूर्ति बनवाना अच्छा समझा। वह लार्ड रिपनकी मूर्ति है। और देखिए, एक स्मृति-मन्दिर यह आपके पचास लाख के संगमरमर वाले से अधिक मजबूत और सैकड़ों गुना कीमती है। यह स्वर्गीया विक्टोरिया महारानी का सन् १८५८ ई० का घोषणापत्र है। आपकी यादगार भी यहीं बन सकती है, यदि इन दो यादगारों की आपके जी में कुछ इज्जत हो।

मतलब समाप्त हो गया। जो लिखना था वह लिख गया। अब खुलासा बात यह है कि 'शो' और 'ड्यूटी' का मुकाबला कीजिए। शो को शो ही समझिए। शो ड्यूटी नहीं है। माई लार्ड ! आपके दिल्ली दरबार की याद कुछ दिन बाद उतनी ही रह जायगी जितनी शिवशम्भु शर्मा के सिर में बालकपन के उस सुख-स्वप्न की है।

७—भय

रामचन्द्र शुक्ल

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म संवत् १९४१ में और मृत्यु संवत् १९९८ में हुई। जो स्थान आचार्य द्विवेदी जी का सम्पादन और भाषा परिष्कार के क्षेत्र में है वही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में है। एक तरह से आप आधुनिक हिन्दी आलोचना के जनक ही हैं।

शुक्ल जी की भाषा और शैली संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ और सौष्ठव लिये रहती है। उनके निबन्धों में गंभीर विवेचना, गवेषणात्मक चिन्तन और पुष्ट अभिव्यञ्जना सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। वैयक्तिकता की छाप इस कदर गहरी है कि चार पंक्तियाँ पढ़ते ही पता चल जाता है। आलोचना ग्रन्थों की अपेक्षा निबन्धों की भाषा में थोड़ा अन्तर है। थोड़े-से-थोड़े शब्दों में गंभीर से गंभीर विचार व्यक्त करना आपकी लेखनकला की विशेषता है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिन्तामणि, बुद्ध चरित आदि आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में आपकी गद्य शैली का सुन्दरतम रूप हमें देखने को मिलता है। 'भय' की सिलसिलेवार व्याख्या करते हुए मानव जीवन को भयमुक्त करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।]

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं। क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। क्रोध दुःख

के कारण के स्वरूप-बोध के बिना नहीं होता। यदि दुःख का कारण चेतन होगा और यह समझा जायगा कि उसने जान-बूझकर दुःख पहुँचाया है; तभी क्रोध होगा। पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहीं। इतना भर मालूम होना चाहिए कि दुःख या हानि पहुँचेगी। यदि कोई ज्योतिषी किसी गँवार से कहे कि "कल तुम्हारे हाँथ पांव टूट जायेंगे" तो उसे क्रोध न आएगा, भय होगा। पर उसी से यदि कोई दूसरा आकर कहे कि "कल अमुक-अमुक तुम्हारे हाथ-पैर तोड़ देंगे" तो वह तुरन्त त्योरी बदलकर कहेगा कि "कौन हैं हाथ-पैर तोड़नेवाले" ? देख लूंगा।"

भय का विषय दो रूपों में सामने आता है—असाध्य रूप में और साध्य रूप में। असाध्य विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असंभव हो या असंभव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रक्खा जा सकता हो। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे या आनन्द से बातचीत करते चले जा रहे थे। इतने में सामने शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। यदि वे दोनों उठकर भागन, छिपने या पेड़ पर चढ़ने आदि का प्रयत्न करें तो बच सकते हैं। विषय के साध्य या असाध्य हाने की धारणा परिस्थिति की विशेषता के अनुसार तो होती ही है पर बहुत कुछ मनुष्य की प्रकृति पर भी अवलंबित रहती है। क्लेश के कारण का ज्ञान होने पर उसकी अनिवार्यता का निश्चय अपनी विवशता या अक्षमता की अनुभूति के कारण होता है। यदि यह अनुभूति कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने के अनभ्यास या साहस के अभाव के कारण होती है तो मनुष्य स्तंभित हो जाता है और उसके हाथ पांव नहीं हिल सकते। पर कड़े दिल का या साहसी आदमी पहले तो जल्दी डरता नहीं और डरता भी है तो संभल कर अपने बचाव के उद्योग में लग जाता है।

भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता या भीरुता कहलाता है और भारी दोष माना जाता है, विशेषतः पुरुषों में। स्त्रियों की भीरुता तो उनकी लज्जा के समान ही रसिकों के मनोरंजन की वस्तु रही है। पुरुषों

की भीरुता की पूरी निन्दा होती है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत पुराने जमाने से पुरुषों ने न डरने का ठेका ले रखा है। भीरुता के संयोजक अव-यवों में क्लेश सहने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास प्रधान है। शत्रु का सामना करने से भागने का अभिप्राय यही होता है कि भागनेवाला शारीरिक पीड़ा नहीं सह सकता तथा अपनी शक्ति के द्वारा उस पीड़ा से अपनी रक्षा का विश्वास नहीं रखता। यह तो बहुत पुरानी चाल की भीरुता हुई। जीवन और अनेक व्यापारों में भी भीरुता दिखाई देती है। अर्थ-हानि के भय से बहुत से व्यापारी कभी-कभी विशष व्यवसाय में हाथ नहीं डालते, परास्त होने के भय से बहुत से पण्डित कभी-कभी शास्त्रार्थ से मुंह चुराते हैं। सब प्रकार की भीरुता के तह में सहन करने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास छिपा रहता है। भीरु व्यापारी में अर्थहानि सहने की अक्षमता और अपने व्यवसाय-कौशल पर अविश्वास तथा भीरु पंडित में मानहानि सहने की अक्षमता और अपने विद्या-बुद्धि-बल पर अविश्वास निहित है।

एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखाई पड़ती है जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्म-भीरुता है। पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं समझते। धर्म से डरनेवालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होनेवाले हमें अधिक धन्य जान पड़ते हैं। जो किसी बुराई से यही समझकर पीछे हटते हैं कि उसके करने से अधर्म होगा, उनकी अपेक्षा वे कहीं श्रेष्ठ हैं जिन्हें बुराई अच्छी ही नहीं लगती।

दु:ख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना मात्र के अनुमान से जो आवेग-शून्य भय होता है, उसे आशंका कहते हैं। उसमें वैसी आकुलता नहीं होती। उसका संचार कुछ धीमा पर अधिक काल तक रहता है। घने जंगल से होकर जाता हुआ यात्री चाहे रास्ते भर इस आशंका में रहे कि कहीं चीता न मिल जाय, पर वह बराबर चल सकता है। यदि उसे असली भय हो जायगा तो वह या तो लौट जायगा अथवा एक पैर आगे न

रखेगा। दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिए। जो सुखात्मक भावों में आशा की। अपने द्वारा कोई भयंकर काम किए जाने की कल्पना या भावना मात्र से भी क्षणिक स्तम्भ के रूप में एक प्रकार के भय का अनुभव होता है। जैसे, कोई किसी से कहे कि "इस छत पर से कूद जाव" तो कूदना न कूदना उसके हाथ में होते हुए भी वह कहेगा कि "डर मालूम होता है"। पर यह डर भी पूर्ण भय नहीं है।

क्रोध का प्रभाव दुःख के कारण पर डाला जाता है इससे उसके द्वारा दुःख का निवारण यदि होता है तो सब दिन के लिए या बहुत दिनों के लिए। भय के द्वारा बहुत सी अवस्थाओं में यह बात नहीं हो सकती। ऐसे सज्ञान प्राणियों के बीच जिनमें भाव बहुत काल तक संचित रहते हैं और ऐसे उन्नत समाज में जहां एक एक व्यक्ति की पहुँच और परिचय का विस्तार बहुत अधिक होता है, प्रायः भय का फल भय के संचार काल तक ही रहता है। जहां वह भय भूला कि आफत आई। यदि कोई क्रूर मनुष्य किसी बात पर आप से बुरा मान गया और आपको मारने दौड़ा तो उस समय भय की प्रेरणा से आप भाग कर अपने को बचा लेंगे। यह संभव है कि उस मनुष्य का क्रोध जो आप पर था उसी समय दूर न हो बल्कि कुछ दिन के लिए वैर के रूप में टिक जाय, तो उसके लिए आपके सामने फिर आना कोई बड़ी बात न होगी। प्राणियों की असभ्य दशा में ही भय से अधिक काम निकलता है जब कि समाज का ऐसा गहरा संघटन नहीं होता कि बहुत से लोगों को एक दूसरे का पता और उनके विषय में जानकारी रहती हो।

जंगली मनुष्यों के परिचय का विस्तार बहुत थोड़ा होता है। बहुत-सी ऐसी जंगली जातियाँ अब भी हैं जिनमें कोई एक व्यक्ति बीस पचीस से अधिक आदमियों को नहीं जानता। अतः उसे दस बारह कोस पर ही रहने वाला यदि कोई दूसरा जंगली मिले और मारने दौड़े तो वह भागकर उससे अपनी रक्षा उसी समय तक के लिए ही नहीं बल्कि सब दिन के लिए कर सकता है। पर सभ्य, उन्नत और विस्तृत समाज में भय के द्वारा स्थायी रक्षा की

उतनी संभावना नहीं होती। इसीसे जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक होता है। जिससे वे भयभीत हो सकते हैं उसी को वे श्रेष्ठ मानते हैं। और उसकी स्तुति करते हैं। उनके देवी-देवता भय के प्रभाव से ही कल्पित होते हैं किसी आपत्ति या दुःख से बचे रहने के लिए ही अधिकतर वे उनकी पूजा करते हैं। अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गये हैं वे जितना सम्मान एक थानेदार का करते हैं, उतना किसी विद्वान् का नहीं।

चलने-फिरनेवाले बच्चों में जिनमें भाव देर तक नहीं टिकते और दुःख परिहार का ज्ञान या भय नहीं होता, भय अधिक होता है। बहुत से बच्चे तो किसी अपरिचित आदमी को देखते ही घर के भीतर भागते हैं। अपरिचित के भय मेंजीवन का कोई गूढ़ रहस्य छिपा जान पड़ता है। प्रत्येक प्राणी भीतरी आँख कुछ खुलते ही अपने सामने मानों एक दुःख-कारण-पूर्ण संसार फैला हुआ पाता है जिसे वह क्रमशः कुछ अपने ज्ञानबल से और कुछ बाहुबल से बहुत सुखमय बनाता चलता है। क्लेश और बाधा का ही सामान्य आरोप करके जीव संसार में पैर रखता है। सुख और आनन्द को वह सामान्य का व्यतिक्रम समझता है; विरल विशेष मानता है। इस विशेष से सामान्य की ओर जाने का साहस उसे बहुत दिनों तक नहीं होता। परिचय के उत्तरोत्तर अभ्यास के बल से अपने माता-पिता या नित्य दिखाई पड़नेवाले कुछ थोड़े से और लोगों के ही संबंध में वह यह धारणा रखता है कि ये मुझे सुख पहुँचाते हैं और कष्ट न पहुँचाएँगे। जिन्हें वह नहीं जानता, जो पहले पहल उसके सामने आते हैं, उनके पास वह बेधड़क नहीं चला जाता। बिल्कुल अज्ञात वस्तुओं के प्रति भी वह ऐसा ही करता है।

भय की इस वासना का परिहार क्रमशः होता चलता है। ज्यों-ज्यों वह नाना रूपों से अभ्यस्त होता जाता है त्यों-त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार ज्ञानबल, हृदयबल और शरीरबल की वृद्धि के साथ वह

दुःख की छाया मानों हटाता चलता है । समस्त मनुष्यजाति की सभ्यता के विकास का भी यही क्रम रहा है । भूतों का भय तो अब बहुत कुछ छूट गया है, पशुओं की बाधा भी मनुष्य के लिए प्रायः नहीं रह गई है; पर मनुष्य के लिए मनुष्य का भय बना हुआ है । इस भय के छूटने के लक्षण भी नहीं दिखाई देते । अब मनुष्यों के दुःख के कारण मनुष्य ही हैं । सभ्यता से अन्तर केवल इतना ही पड़ा है कि दुःख-दान की विधियाँ बहुत गूढ़ और जटिल हो गई हैं । उनका क्षोभ-कारक रूप बहुत से आवरणों के भीतर ढक गया है । अब इस बात की आशंका तो नहीं रहती है कि कोई जबरदस्ती आकर हमारे घर ,खेत, बाग-बगीचे, रुपये पैसे छीन न ले पर इस बात का खटका रहता है कि कोई नकली दस्तावेजों, झूठे गवाहों और कानूनी बहसों के बल से हमें इन वस्तुओं से वंचित न कर दे । दोनों बातों का परिणाम एक ही है ।

एक एक व्यक्ति के दूसरे दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहेंगे । किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था—एकाशाही से लेकर साम्यवाद तक—इस दोरंगी झलक को दूर नहीं कर सकती । मानवी प्रकृति की अनेक रूपता शेष प्रकृति की अनेक रूपता के साथ-साथ चलती रहेगी । ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख, प्रेम ही प्रेम हो, या तो लंबी-चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए ही समझा जा सकता है ।

ऊपर जिस व्यक्तिगत विषमता की बात कही गई है इससे समष्टि रूप में मनुष्य-जाति का वैसा अमंगल नहीं है । कुछ लोग अलग-अलग यदि क्रूर लोभ के व्यापार में रत रहें तो थोड़े से लोग ही उनके द्वारा दुखी या त्रस्त होंगे । यदि उक्त व्यापार का साधन एक बड़ा दल बांधकर किया जायगा तो उसमें अधिक सफलता होगी और उसका अनिष्ट प्रभाव बहुत दूर तक फैलेगा । संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार

की संभावना बहुत बढ़ जाती है। प्राचीन काल में जिस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान में हुई थी उसने आगे चलकर योरप में बड़ा भयंकर रूप धारण किया। अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद का उसके साथ संयोग हुआ और व्यापार राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। योरप के देश के देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहां तक धन खींचा जा सके बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण-काल तक ही जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़ ,जटिल और स्वार्थी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का क्रम-क्रम से रक्त चुसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।

जब तक योरप की जातियों ने आपस में लड़कर अपना रक्त नहीं बहाया तब तक उनका ध्यान अपनी इस अंधनीति के अनर्थ की ओर नहीं गया। गत महायुद्ध के पीछे जगह-जगह स्वदेश-प्रेम के साथ-साथ विश्व-प्रेम उमड़ता दिखाई देने लगा। आध्यात्मिकता की भी बहुत कुछ पूछ होने लगी। पर इस विश्व-प्रेम और आध्यात्मिकता का शाब्दिक प्रचार ही तो अभी देखने में आया है। इस फैशन की लहर भारतवर्ष में भी आई। पर कोई फैशन के रूप में गृहीत इस विश्वप्रेम की और 'अध्यात्म' की चर्चा का कोई स्थायी मूल्य नहीं। इसे हवा का एक झोंका ही समझना चाहिए।

सभ्यता की वर्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसा पहले रहा करता था पर एक जाति को दूसरी जाति से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गए हैं। सबल और सबल देशों के बीच अर्थ-संघर्ष की ,सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है; एक क्षण का विराम नहीं है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना

लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रहने के लिए क्षात्रधर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जिस प्रकार सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है उसी प्रकार मुक्तातंक होने का भी। पर कर्मक्षेत्र के चक्रव्यूह में पड़कर जिस प्रकार सुखी होना प्रयत्न-साध्य होता है उसी प्रकार निर्भय रहना भी। निर्भयता के संपादन के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं—पहली तो यह कि दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न हो; दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न कर सकें। इनमें से एक का संबंध उत्कृष्ट शील से है और दूसरी का शक्ति और पुरुषार्थ से। इस संसार में किसी को न डराने से ही डरने की संभावना दूर नहीं हो सकती। साधु से साधु प्रकृति-वाले को क्रूर लोभियों और दुर्जनों से क्लेश पहुँचता है। अतः उनके प्रयत्नों को विफल करने का भय-संचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से हम बच नहीं सकते।

८—जीवन में साहित्य का स्थान

प्रेमचन्द

[प्रेमचन्द का जन्म सन् १८८० में बनारस जिले के एक गाँव लमही में हुआ था। इनका घर का नाम धनपत राय था। बरसों तक शिक्षा विभाग में काम करते रहे। बाद में पूरा समय साहित्य-रचना में लगाया। हिन्दी के कथा-साहित्य को चरम विकसित रुप देने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है। सैकड़ों कहानियाँ, दर्जनों उपन्यास, कई नाटक और निबन्ध के अलावा आपने बरसों तक 'हंस' और 'जागरण' का सम्पादन किया। मृत्यु १९३६ ई० में, बनारस में हुई।

कहानीकार प्रेमचन्द और निबन्ध लेखक प्रेमचन्द की भाषा में विशेष अन्तर नहीं है। कहानियों ही की तरह आपके निबन्धों की भाषा भी सरल, प्रवाहमयी उर्दू मिश्रित और बामुहावरा है। छोटे-छोटे वाक्य, बोल चाल के शब्दों का बाहुल्य और बीच-बीच में मुहावरे जड़े हुए। व्यंग प्रेमचन्द की शैली की अपनी विशेषता है।

प्रेमचन्द की गिनती आदर्शवादी लेखकों में की जाती है। इनके उपन्यासों में आदर्श का रंग खूब उभरा है। लेकिन प्रेमचन्द का आदर्श हवाई आदर्श नहीं, यथार्थवादी आदर्श है। आपकी रचनाओं में गोदान, कर्मभूमि, गबन, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, निर्मला और मान सरोवर आदि प्रमुख हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में प्रेमचन्द ने जीवन में साहित्य का स्थान निर्देश करते हुए साहित्यकारों के कर्त्तव्यों और दायित्वों की व्याख्या की है। लेख की शैली बहुत ही सरल और सुबोध है। लेखक ने प्रश्न और समस्याएं उठाई हैं

और उनका समाधान किया है। जीवन को साहित्य का मुख्य आधार माना गया है। जो साहित्य इस आधार से वंचित हुआ वह साहित्य नहीं।]

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियादी मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यंत आनन्द ही की खोज में रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में; लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्वमें सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्साना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेंदु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है; क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए

ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, ऊषा की लाली में, सावन-भादो की अँधेरी रात में और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किल से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है वही आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो श्रृंगार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, तो केवल बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिये सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय मर्यादा की रक्षा करना ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ बुद्धि से है। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है, साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की और साहित्यिक के लिए विह्वलता

की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्री रामचन्द्र शवरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवामन विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते हैं; इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गयी है। जिसकी आत्मा, जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो ज़ड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है ? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुल मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती है। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़ कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें एसा उत्तेजित किया जाय,

कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ । इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होतीं है । साहित्य भी मनोविककारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है । सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भांति, जैसे दुलार चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर से कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है । साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है । जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है । यही कारण है कि हमें उपनिषदों और अन्य धर्म ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं ! हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सब से अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएं रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक कथाएँ, तौरेह, कुरान, इंजिल ये सभी मानवी कथाओं के संग्रहमात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया ? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देशा पहुँचाया जा सकता है । वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानव जाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते ?

आदि काल से मनुष्य के लिए सब से समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-

जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् हो कर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानों विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे, पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उसके एक एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उसका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से बिचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का हो कर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़ कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति

के अनुसार बदले रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होती। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि कवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है; और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ; पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें; पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कतलाम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित हो कर उसने कतलाम को बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शान्त होता और दिल्ली वालों के ख़ून की नदी बहती चली

जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रख कर वह नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न माँद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज़ कुशी ।।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है; पर इसे सुन कर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कतलाम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेज मल्लाह को भाऊँ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़ कर, नेपोलियन के सामने लाये और उसने पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आए। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंगलैण्ड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल प्रपंच या और परिस्थितियों के वशीभूत हो कर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित कर के, मन के कोमल तारों पर चोट लगा कर, प्रकृति से सामञ्जस्य उत्पन्न कर के। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—

साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संर्षघ पायेंगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त हो कर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी युरोपियन महात्मा का उपदेश सुन कर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं; पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है; पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर जा चुका है कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से ले कर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सब से मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिरा कर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्जवलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीरिनयर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहत हैं, उन्हें बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है; क्योंकि वह अपने को एक महान पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करन या कुरसी पर बैठ कर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा ह। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांच्छनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी

विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद कर के हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी !

६—उपन्यासों के अध्ययन से हानि-लाभ

गुलाब राय

[बाबू गुलाब राय का जन्म संवत् १८८७ में इटावा में हुआ। अधिकांश जीवन शिक्षक और साहित्यिक के रूप में बीता और बीत रहा है। कुछ समय तक वकालत और दूसरी नौकरियाँ भी कीं। इस समय सेण्ट जान्स कालेज आगरा में दर्शन के अध्यापक और साहित्य सन्देश के सम्पादक हैं।

बाबू गुलाब राय ने आलोचना, साहित्य मीमांसा, दर्शनग्रन्थ, हास्य-विनोद आदि कई विषयों पर सफलता पूर्वक लेखनी चलाई है। अपने निबन्धों में आप आगमन शैली का अनुसरण करते हैं। सर्व प्रथम दो एक मान्य लेखकों के उद्धरण देकर विषय का परिचय कराते हैं। तत्पश्चात उनके कथन की विवेचना करते हुए अपना मत स्थिर करते हैं। अपनी रचनाओं में आपने अंग्रेजी और कई मुहावरों का भी प्रयोग किया है। आपने विचारात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। हिन्दी के गिने-चुने बुद्धिवादी लेखों में आपका स्थान अन्यतम है।

अभीतक आपकी 'नवरस', हिन्दी नाट्य विमर्श, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, ठलुवा क्लब, मेरी असफलताएँ, दर्शनों का इतिहास, आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत निबन्ध आपकी विवेचनात्मक शैली का अच्छा उदाहरण है।]

मनुष्य स्वभाव से ही कथा-कहानियों में रुचि रखता है। बाल्यकाल में हम राजा और रानियों की कथायें कितने चाव से सुनते थे! उस समय

हमारा मन कल्पना-लोक के निवासियों में ही रहता था। उन दिनों हमारे लिए कल्पना और वास्तविकता में कोई अन्तर न था। हमारे समाज का वृत्त भी खूब विस्तृत था। स्वर्ग-लोक की परियों से ले कर स्यार और लोमड़ी तक सब उसमें शामिल थे। वे भी हमारी तरह बोलते थे। उस समय हमारी कल्पना के पर तर्क की कैंची से कटे न थे। वह खूब उड़ान लेती थी। हमारे लिए यह ध्रुव सत्य था कि एक राजा था (उसके नाम धाम और समय से कुछ प्रयोजन नहीं), उसके सात लड़कियाँ थी, इत्यादि।

हमारी यही रुचि और प्रवृत्ति आजकल के कथा साहित्य की जननी है। अन्तर केवल इतना है कि आजकल बंदर-बँदरिया, लोमड़ी, ऊँट और शृगाल से हट कर हमारी रुचि मनुष्य समाज में केन्द्रस्थ हो गई है और उसको पूरा विस्तार दे दिया गया है। राजा रानी की अपेक्षा 'होरी' किसान में मानवता के दर्शन कुछ अधिक मात्रा में होने लगे हैं। समाज की सभी श्रेणियों के लोग हमारे कथा साहित्य के नायक और नायिकाएँ बनने का अबाधित अधिकार रखते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपनी कथाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। कभी-कभी उसे इतना वास्तविक रूप दे देते हैं कि शहर, गाँव या व्यक्ति विशेष का नाम ही केवल कल्पित होता है। इस तरह मानव-जीवन का पूरा चित्र हम अपने कथा साहित्य में देखते हैं।

यद्यपि प्राचीन समय उपन्यास एक प्रकार के गद्य का नाम था तथापि आजकल हम इस शब्द का अंगरेजी के 'नावेल' (Novel) शब्द के पर्याय रूप से व्यवहार करते हैं। इसमें प्रायः एक व्यक्ति को केन्द्रस्थ कर उससे सम्बन्ध रखने वाले मानव-समाज का चित्रण रहता है। यह चित्रण स्थायी नहीं होता, वरन् प्रगतिशील होता है। इसमें विकास, पतन, आवर्तन, परिवर्तन, अन्तर्द्वन्द, रुदन, पीड़ा, करुणा, क्रन्दन, हास, विलास, अश्रु और उच्छ्वास, प्रति-द्वन्द्विता, सफलता, असफलता सभी बातें रहती हैं। नाटक की भाँति यह भी समाज का चित्र है; अन्तर केवल इतना ही

है कि नाटक में लेखक का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है, इसमें नहीं। लोगों ने इसको जेबी थियेटर कहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपन्यास मनुष्य की रुचि की वस्तु है। इसका अस्तित्व मनुष्य की अनुकरणात्मक स्वभाविक प्रवृत्ति में है। इससे मनुष्य का मनोरंजन होता है। समय भारी नहीं मालूम होता और बेकारी नहीं अखरती।

काल-यापन और मनोरंजन बहुत साधारण लाभ हैं इनके अतिरिक्त जो बड़ा लाभ है वह हमारी सहानुभूति के विस्तृत हो जाने का है। वास्तविक जीवन में सब प्रकार के लोगों के साथ हमारा संपर्क नहीं होने पाता। गाँव के लोग शहर के जीवन से अपरिचित रहते हैं और शहर वाले गाँव वाले लोगों से! विद्युतालोक से जगमगाती हुई सब प्रकार की सुख-सामग्री से सुसज्जित गगन-चुंबी अट्टालिकाओं के निवासी धन-कुबेरों का निबिड़ अन्धकारमय फूस की झोपड़ी के निवासी एक गट्ठे प्याल और काठ की कठौती में सीमित संपति वाले एकाहारी निरीह भिखारी के जीवन से क्या सम्बन्ध? यदि सम्बन्ध भी होता है तो वह बहुत ऊपरी! बुभुक्षा रूपी दानव के साथ वह उसके बीबी बच्चों के दैनिक संघर्ष का हाल नहीं जानता। उपन्यासकार कवि की भाँति जहाँ रवि की भी गति नहीं होती वहाँ पहुँच कर अन्धकारपूर्ण गुफाओं का हाल लिख देता है। वह भौतिक गुफाओं में ही प्रवेश नहीं करता वरन हृदय मन्दिरकी गम्भीर गुफाओं में भी प्रवेश कर हमको विभिन्न परिस्थितियों के लोगों के मनोविज्ञान से परिचित करा देता है। हमारा मन थोड़ी देर के लिए उनके मन के साथ एक स्वर हो जाता है। हम कथा के तटस्थ दर्शक ही नहीं रहते वरन किसी एक पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर कथा के प्रवाह में बहने लगते हैं। हमारी दया और सहानुभूति की कोमल भावनाएँ जाग्रत और जीवित हो जाती हैं। हममें मानवता का संचार होने लगता है। यदि उपन्यास का पात्र हमको वास्तविक जीवन में मिलता है तो उसको हम अपने चिर-परिचित मित्र की भाँति पहचान लेते हैं। और उसकी कठिनाइयों को समझ कर

उसके साथ सहृदयता का व्यवहार करने लग जाते हैं। जो लोग मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास पढ़ चुके हैं वे किसान के साथ सहृदयता का व्यवहार अवश्य करेंगे। वे एक सहृदय ग्रामीण की भाँति उसकी कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। गरीब आदमियों की करुण पुकार सुनाने में मुंशी प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकारों ने राजनीतिज्ञों के सभा-मंचीय व्याख्यानों से अधिक उपकार किया है।

उपन्यासकार यद्यपि धर्मोपदेशक नहीं होता तथापि उसका प्रभाव लोगों की नीति और आचार-पद्धति पर पड़ बिना नहीं रहता। उसका उपदेश जीवन की घटनाओं से प्रमाणित और पुष्ट हो कर कोरे सिद्धान्तवाद और शास्त्रीय-विवचन से अधिक प्रभावशाली होता है। उपन्यासों में धूर्तों और पाखंडियों के विडंबनापूर्ण व्यवहारों का उद्घाटन पढ़ कर हमको एसे व्यवहारों के प्रति घृणा हो जाती है। हम स्वयं उनस बचन का प्रयत्न करते हैं। पुलिस के तथा जमींदार आदि अन्य सत्ताधारियों के अत्याचार का वर्णन पढ़ कर हमको एसे व्यवहार से दूर रहने की प्रेरणा होती है।

उपन्यासों के अध्ययन से जो देश-विदेश का ज्ञान होता है उसस हमारी व्यवहार-कुशलता बढ़ती है। हम दूसर लोगों की सफलताओं और असफ-लताओं से लाभ उठा सकत हैं। कभी कभी हम उपन्यासों में कुछ सामाजिक समस्याओं के हल करन की सामग्री भी पाते हैं। समाज में हम एकदम नई परिस्थिति को उपस्थित कर उसका लाभालाभ नहीं देख सकत, किन्तु उपन्यासकार सदा किसी न किसी रूप में सामाजिक प्रयोग करता रहता है। जैसे प्रेमचंद जी के सेवासदन में वश्याओं के सुधार की, रवीन्द्र बाबू के गौरमोहन में संस्कार की अपेक्षा जाति की प्रबलता की तथा रूसी उपन्यास अन्ना कार्नीना में दांपत्य और वात्सल्य प्रेम की समस्याओं पर नई परि-स्थितियाँ उपस्थित कर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार उपन्यासकार समाज का पथ-प्रदर्शक भी बन जाता है। उसके पथ-प्रदर्शन मे लाभ उठा सकते हैं।

उपन्यास समाज की कुप्रथाओं को दूर करने में बहुत कुछ सहायक हुए हैं। 'टाम काका की कुटिया' का गुलामी प्रथा के दूर करने में बहुत कुछ हाथ था। बंगाल के उपन्यासों में दहेज की प्रथा के विरुद्ध बहुत आन्दोलन रहा है। आजकल के हिन्दी उपन्यासों और कहानियों अछूतोद्धार में भी थोड़ा-बहुत हाथ बँटाया है। उपन्यासों द्वारा प्रभावशाली आन्दोलन हो सकता है और हुआ भी है। उनसे जनता की रुचि बहुत कुछ परिमार्जित हुई है।

उपन्यास यथार्थवादी (Realist) तथा आदर्शवादी (Idealist) दोनों प्रकार के होत हैं। यथार्थवादी उपन्यासों के विरुद्ध कहा जाता है कि वे समाज की कमजोरियों का नग्न चित्र खींचत हैं, जैसा कि जयशंकर 'प्रसाद' के कंकाल में है। उससे पाठक के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मानव जाति के प्रति घृणा होन लगती है। कभी कभी पाठक स्वयं भी वासनाओं की लहर में आन्दोलित होन लगता है। हत्या और मृत्यु के उपन्यास पढ़ कर बदला लेने की प्रवृत्ति तथा घृणा का भाव बढ़ता है। जहाँ अच्छ उपन्यासों से सहानुभूति बढ़ती है वहाँ बुरे उपन्यासों से कठोर वृत्तियों का पोषण होता है।

इस दोष के परिहार-स्वरूप कई विद्वानों न यह कहा है कि मनुष्य में हिंसा और घृणा की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से बिना वास्तविक हत्या हुए हिंसा-वृत्ति-संबंधी हृदय का उबाल निकल जाता है। वास्तविक हत्या से काल्पनिक हत्या निरापद है। यह बात कुछ अंशों में ठीक भी है किन्तु ऐसे उपन्यासों को सावधानी के साथ पढ़ना चाहिए। हमको उनके बहाव में पड़ कर अपने अस्तित्व को भूल जान की अपेक्षा अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेना अधिक श्रेयस्कर होगा। कहीं कहीं वासनाओं के दुष्परिणाम दिखलाने के बहाने वासनाओं का उच्छृंखल वर्णन होन लगता है। लेखक-गण मनुष्यों की कुरुचि से लाभ उठाना चाहत हैं। ऐसे उपन्यासों का प्रचार अवश्य हानिकारक होता है।

यद्यपि कोई भी वासनाओं के जाल से मुक्त नहीं है, तथापि किताबों की बिक्री के हेतु उन बातों का आकर्षक रूप से वर्णन करना नीति के विरुद्ध है। आजकल के युग में शरद बाबू, जैनेन्द्र (सुनीता में) तथा भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा में) प्रभृति लेखक समाज के माने हुए पातिव्रत-सम्बन्धी आदर्शों को ढीला करना नीति-विरुद्ध नहीं समझते, वरन वे नीति और पाप-पुण्य की दूसरे ही रूप से व्याख्या करते हैं। यद्यपि इसमें इतना सत्य अवश्य है कि समाज के वर्त्तमान आदर्शों के कारण अबलाओं पर अधिक अत्याचार हुआ है, तथापि इस प्रवृत्ति को इतना न बढ़ाना चाहिए कि आपद्-धर्म कर्त्तव्य बन जाय। इस प्रवृत्ति से सामाजिक संगठन को बहुत हानि पहुँचेगी।

उपन्यासों के अध्ययन से जहाँ समय कटता है और मनोरंजन होता है वहाँ ठोस अध्ययन की ओर रुचि कम होती जाती है। लोग आसान की ओर ही अधिक झुकते हैं। हमारे अध्ययन में गंभीर और साधारण का एक सुखद संतुलन होना चाहिए। मनोरंजन यदि हमारे मन को गंभीर अध्ययन के लिए तैयार करे तब तो उसकी सार्थकता है और यदि वह हमारे गंभीर अध्ययन का स्थान ले कर उसका बहिष्कार कर दे तो वह अवश्य हानिकारक होगा। हमारे अध्ययन में उपन्यासों का स्थान अवश्य होना चाहिए, किन्तु उसको ऐसा विस्तार न देना चाहिए कि और किसी बात के लिए स्थान ही न रहे। यदि ऐसा होगा तो हमारा मानसिक विकास संकुचित हो जायगा।

१०——साहित्य देवता

माखनलाल चतुर्वेदी

[माखनलाल जी का जन्म १८८८ में होशंगाबाद जिले के बावई नामक स्थान में हुआ। साहित्य और राजनीति दो ही आप के कर्म क्षेत्र रहे। जीवन का आरम्भ आतंकवादी की हैसियत से किया। फिर साहित्यक क्षेत्र में आये। कई बरस 'प्रताप' और 'प्रभा' के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे। इन दिनों खण्डवा के साप्ताहिक 'कर्मवीर' के यशस्वी सम्पादक हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हरिद्वार अधिवेशन के सभापति भी रहे हैं। हिन्दी संसार में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से और विशेषकर कवि के रूप में प्रख्यात हैं। 'हिम किरीटिनी' और 'हिम तरंगिनी' के नाम से आपकी कविताओं के संकलन प्रकाशित हुए हैं। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक ने आपको विशेष ख्याति प्रदान की। लेखों का संग्रह 'साहित्य देवता' के नाम से प्रकाशित हुआ है। आप वक्ता भी बड़े अच्छे हैं।

माखनलाल जी का गद्य अतीव प्रौढ़ और प्रवाहमय होता है। चलती फिरती भाषा में बड़ी पते की बात कह जाते हैं। भाषा इतनी सरस और मधुर होती है कि गद्य गीत का आनन्द आ जाता है।

'साहित्य देवता' में देश काल और परिस्थिति के अनुरूप साहित्य सृष्टि की आवश्यकता पर जोर दे कर साहित्यिकों को जन अभिमुख बनने की ओर संकेत किया गया है।]

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; कलम की जीभ को बोल

लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध विराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम-मात्र होगा। परंतु यह काली बूंदे अमृत बिंदुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

× × ×

कौन सा आकार दूं? तुम मानव हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनन्त 'जागृत' आत्माओं के ऊँचे पर गहरे 'स्वप्न' जो हो। मेरी काली कलम का बल, समेटे नहीं सिमटता। तुम, कल्पनाओं के मन्दिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों के, और लड़ाके सिपाही के रक्त विन्दुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचू मैं? तुम तो वाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों से खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पक्षियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को अपने रूपहलेपन में नहलाए हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ? मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मन्दिर, ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ ध्येय का माखनचोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में, 'राधे' कह कर नहीं दौड़ा आ रहा है? आह, तब तो तुम जमीन को आसमान से मिलाने वाले जीने हो; गोपाल के चरण चिह्नों को साध-साध कर चढ़ने के साधन। ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविन्द के पदारविंद के पास पहुँच कर भूलने को मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह भूल पड़ता होगा?—आह, तुम कितने महान हो! इसलिए बेचारा लांगफेलो, तुम्हारे चरण-चिह्नों के मार्ग की कुंजी तुम्हारे ही द्वार पर लटका कर चला गया। चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं, और मेरी अमृत-निस्यंदिनी गाय ब्रज-लता, दोनों सुनते हैं।

"सखि चलो सज्जन के देश, जोगन बन के धूनी डालेंगे।" मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे, वहीं मेरे मित्र 'शंभु' जी ने अपनी यह तान छेड़ी थी। परन्तु वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपाद और चतुष्पाद का, विश्व को निगूढ़ तत्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया; मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचने वाला था न?

× × ×

हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को कच्चा खाने वाली जबान, और लज्जा ढँकने के लिए लपेटी जाने वाली वृक्षों की छालें;—वे, इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो—श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहजादे कपास के वृक्ष, बाकायदा, अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रख कर, भू-पाल बनने के लिए वायु सेवन के साथ होड़ वद रहे हैं। इन दोनों जमानों के बीच की जंजीर—तुम्हीं तो हो। विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक बना, तुम्ही न, कपास के तन्तुओं से भी झीने तार खींच कर आचार ही की तरह, विचार के जगत में पाँचाली की लाज बचाने आये हो? कितने दुःशासन आये, और चले गए। तुम्हारी बीन से, रात को तड़पा देने वाला सोरठ गाता हूँ, और सबेरे, विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय, उसी बीन से, युद्ध के नक्कारे पर डंके की चोट लगाता हूँ। नागाधिराजों के मस्तक पर से उतरने वाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ में और उनसे निकलने वाली लहरों की कुरबानी से हरियाली होने वाली भूमि में, लजीली पृथ्वीसे लिपटे तरल नीलाम्बर महासागरों में, और उनकी लहर को चीर कर गरीबों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए दौड़ने वाले जहाजों के झंडों में, तुम्हीं लिखे दीखते हो। यदि तुम स्वर्ग न उतारते, तो मन्दिरों में किसकी आरती उतरती? वहाँ चमगीदड़ टंगे रहते; उलूक बोलते। मस्तिष्क के मन्दिर भी जहाँ तुमसे खाली हैं, यही तो हो रहा है। कुतुब-मीनारों और पिरामिडों के गुंबज तुम्हारे ही आदेश से आसमान से बातें

कर रहे हैं। आँखों की पुतलियों में अगर तुम कोई तसवीर न खींच देते, तो वे बिना दाँतों के ही चींथ डालतीं, बिना जीभ के ही रक्त चूस लेतीं। वैद्य कहते हैं, धमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है—क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है ? व्यासका कृष्ण, और वाल्मीकि का राम, किसके पंखों पर चढ़ कर हजारों वर्षों की छाती छेदते हुए आज भी लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं ? वे चाहे कागज के बने हों, चाहे भोज पत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।

रूठो नहीं, स्याही के शृंगार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गए कि—मैं तुम्हारा चित्र खींच रहा था !

× × ×

परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो ? तुम्हारा चित्र ? बड़ी टेढ़ी खीर है ? सिपहसालार तुम, देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छन कर, धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की दौड़ हो; और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की वंशी की धुन हो; धुन वह, जो 'गोकुल' से उठ कर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठपर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैगंबरों का पैगाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किसी लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची ? वह तो तुम हो, परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश और आज भी कहाँ ठहर रहे हो ? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिये बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे ! ऐसे समय हमारे सम्पूर्ण युग का मूल्य तो मेल-ट्रेन में पड़ने वाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता। पर इस समय तो, तुम मेरे पास बैठे हो। तुम्हारी एक मुट्ठी में भूत-काल का देवत्व छटपटा रहा है—अपने समस्त समर्थकों को ले कर दूसरी मुट्ठी में, विश्व का विकसित तरुण पुरुषार्थ विराजमान है। धूल के नन्दन में परिवर्तित स्वरूप, कुंज-बिहारी, आज कल्पना की फुलवारियाँ भी, विश्व की स्मृतियों

में, तुम्हारी तर्जनीके इशारों पर लहलहा रही हैं। तुम नाथ नहीं हो; इसी-लिए कि मैं अनाथ नहीं हूँ। किन्तु हे अनन्त पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ संभालते मेरे घर न आते, तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे जमीन भी, नदियाँ भी बहतीं सरोवर भी लहराते; परन्तु मैं और चिड़ियाँ दोनों, छोटे छोटे जीवजन्तु और स्वाभाविक अन्न कण बीन कर अपना पेट भरते होते। मैं भर वैशाख में भी वृक्षों पर शाखामृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता परन्तु मेरा और विश्व के हरियालेपन का उतना ही संबंध होता जितना नर्मदा के तट पर ,हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए टेलिग्राफ के खंभे का नर्मदा से कोई संबंध हो। उस दिन, भगवान 'समय' न जाने किसका, न जाने कब कान उमेठ कर चलते बनते ? मुझे कौन जानता ? विंध्या की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का भी इतिहास किसी के पास लिखा है ? इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूँ:—

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाहू।"

इसलिए कि अन्तरतर की सरल तूलिकाएँ समेटकर मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ।

"शिव संहार करते हैं"—

कौन जाने ? किन्तु मेरे सखा, तुम जरूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों से तुम्हारा दिव्य गान उठता है। किन्तु यह अपनी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गये हैं, वातायन बन्द हो गये हैं। सूर्य की नित्य नवीन, प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों को यहाँ गुजर कहाँ ? वे तो द्वार खटखटाकर लौट जाती हैं। द्वार पर चढ़ी हुई बेलें, पानी की पुकार करती हुई, बिना फलवती हुए ही अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करने वाले अल्हड़ों को लेकर युग, इस कुटी का कूड़ा साफ करने ही में लग जाना चाहता है। कितने ही तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य-दर्शन नहीं होते। देवता! तुम्हारे मन्दिर की जब यह अवस्था किए हुए हूँ, तब बिना प्रकाश,

बिना हरियालेपन, बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किये, तुम्हारे चित्र ही कहाँ उतार पाऊँगा ? विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता ! तुम्हारी तसवीर खींचने में, शायद दैवी चितेरे इसीलिए असफल हुए। उन्होंने चन्द्र की रजतिमा की दावात, में कलम डुबो-डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया, और प्रतीक्षा की उद्विग्नता में, सारा आसमान धबीला कर चलते बने। इस बार, मैं पुष्प लेकर नहीं कलियाँ तोड़कर आनेकी तैयारी करूँगा, और ऐसे विश्व के प्रथम-प्रभात के मन्दिर उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ा कर तुम्हारे उस अंतरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ तुम अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए अशेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होंगे। आज तो उदास, पराजित, और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, अपने बाग में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल अन्तस्तल को छेदकर, उस समय, जब तुम नागाधिराज का मुकुट पहने, दोनों स्कंधों से आने वाले सन्देशों पर मस्तक डुला रहे होंगे; गंगा और यमुना का हार पहने, वंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होंगे, नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहिने, विन्ध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होंगे, कृष्णा और कावेरी की कोरावली नीलाम्बर पहने, विजयनगर का संदेश, पुण्य-प्रदेश से गुजरकर सह्याद्रि और अरावली को सेनानी बना, मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुए, देहली से पेशावर और भूटान चीरकर अपनी चिर कल्याणमयी वाणी से, विश्व को न्योता पहुँचा रहे होंगे; और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिन्द महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होंगे—ठीक उसी संनिकट भविष्य में, हाँ सूजी से कलियों का अन्तःकरण छेद मेरे प्रियतम, मैं तुम्हारा चित्र खींचने आऊँगा। तब तक, चित्र खींचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी। बिना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आ गया।

देवता, वह दिन आने दो; स्वर सध जाने दो।

११—साहित्य माधुरी

वियोगी हरि

[श्री वियोगी हरि का जन्म छत्रपुर राज्य में सन् १८९६ में हुआ। आपका वास्तविक नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है। आरम्भ में प्रयाग में रह कर 'सम्मेलन पत्रिका' और 'सूर सागर' का सम्पादन किया। सन् १९२२ से गाँधी सेवा संघ के सदस्य और 'हरिजन सेवक' के सम्पादक हैं। इन दिनो हरिजन उद्योगशाला, दिल्ली के अध्यक्ष हैं और वहीं रहते हैं।

श्री वियोगी हरि को अपनी एक कविता पुस्तक 'वीर सतसई' पर मंगला प्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। यह ग्रन्थ ब्रजभाषा में है। अभी तक बीसियों पुस्तकों का प्रणयन और सम्पादन कर चुके हैं।

आप ब्रजभाषा, ब्रजभूमि और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। वैसे राजनैतिक महत्व की रचनाएँ भी आपने की हैं। आपकी अधिकांश भाव-व्यंजना दुरूह संस्कृत तत्समता लिए हुए है और कहीं-कहीं बाण की कादम्बरी से टक्कर लेने लगती है। लेकिन जहाँ वे केवल चलतेपन के विचार से उर्दू की ओर झुके, वहाँ भाषा विशुद्ध, स्पष्ट, व्यावहारिक एवं श्रुति मधुर हुई है और धारा प्रवाह भी खूब निभा है।

आपने 'मेरा जीवन प्रवाह' नामक आत्म चरित्र भी लिखा है।]

"न ब्रह्म विद्या नच राज-लक्ष्मीस्तथा, यथैवं कविता कवीनाम्' यों तो सर्वत्र ही विधि-विधान में माधुरी मुकुलित मिलती है, किन्तु जो माधुरी साहित्य सौन्दर्य में है, , जो माधुरी रस रत्नाकर में है, जो माधुरी मार्मिक जनों की मानस मंजरी में है, वह कैशोर्य-लावण्य में, लक्ष्मी-लहरी

में तथा योगियों की समाधि-साधना में कहाँ ? जो माधुरी कवि-कल्पना एवं कविता कादम्बिनी में पाई जाती है, वह माधवी-मल्लिका के मकरंद में कहाँ ? मेरी सम्मति में तो जो माधुरी 'कवित्त-रस' में है वह 'तन्त्री नाद', 'सरस राग' अथवा 'रति-रंग' में नहीं। साहित्य-माधुरी-मर्माहत रसिक जन ही—'धीरे समीरे यमुना-तीरे वसति वने वन माली' एवं 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' के बीच का रस रहस्य समझ सकते हैं। जो साहित्य माधुरी में मतवाला है उसे कोई भी मतवाला अपने मत में नहीं मिला सकता। उस खुदमस्त का मजहब वेद, अवस्ता, बाइबिल या कुरान से परे है। वह तो समस्त धर्मों की साधना वाणी के मन्दिर में ही कर लेता है।

व्याकरण में दाँत खटाखट करनेवाले या दर्शनों के पचड़े में पचनेवाले भी जब इस माधुरी का आकंठ पान करते हैं, तब वे भी अपनी विभोर रसना को इस प्रकार उपदेश करने लगते हैं।—

"जीभ निबौरीं क्यों लगै, बौरी चाख अंगूर"

सचमुच ही इस माधुरी में एक अलौकिक द्राक्षारस का स्वाद मिलता है हृदय में एक अनूठी गुदगुदी पैदा हो जाती है। सूर के पद, तुलसी की चौपाइयाँ, देव और घनानंद के कवित्त एवं बिहारी के दोहे क्या हैं ? इसी सुधा-रस से भरे कटोरे, साहित्य-माधुरी से छलकते हुए प्याले हैं। जो इस रस में नख से शिख तक डूबे हैं, वे संसार-सागर पार कर चुके, और जो इसमें गोते लगाने से अलग रहे, समझ लो, वे भव-पारावार में ऐसे डूबे कि कुछ ठिकाना नहीं।

अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग।

इसमें डूबनेवाले प्रकृति और काल से सदा निर्लेप रहते हैं। उनका संसार कुछ निराला ही होता है। वे ग्रीष्म में वर्षा की, वर्षा में ग्रीष्म की, हेमन्त में वसन्त की तथा शिशिर में शरद में छटा देखते हैं। उनके लिए दुःख दुःख नहीं, सुख सुख नहीं। जिस अवस्था को ज्ञानी और योगी कठिन से कठिन विचार और साधना के द्वारा प्राप्त कर पाते हैं, उसे वे अनायास ही

प्रत्यक्ष कर लेते हैं। इतना ही नहीं, मेरी तो यह धारणा है कि योगियों को आत्मानुभूति से, विज्ञानियों को आविष्कार से, रणधीर को युद्ध-विजय से, और आजन्म-रंक को साम्राज्य प्राप्ति से जितना आनन्द मिलता है, उससे शत-सहस्र गुणाधिक आह्लाद साहित्य रस के पान करने वाले को उपलब्ध होता है ।

इसी माधुरी के कारण कदाचित् इस असार संसार को सहृदय जनों ने 'जगत सचाई सार' कह कर पुकारा है । अन्यथा माया-वादियों का ही सिद्धांत सत्य है। इस स्थल पर एक बड़े ही विरोध की बात स्मरण आ गई है। सुना है, एक विष-वृक्ष में दो फल फले हैं। और उन फलों में भरी हुई है सुधा ! वह विष वृक्ष संसार है, और उसके अमृत-फल हैं 'काव्यानुशीलन' तथा 'सत्संग' ।

"संसार विषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
काव्यामृतरसास्वादः, संगतिः सज्जनैः सह ।"

इसी आधार पर रसज्ञजनों ने मिथ्या जगत् को सत्य सिद्ध किया है। ठीक भी है, इस संसार-समुद्र में यदि काव्यामृतरसास्वादन का आधार न मिलता तो हम निराधार कभी के डूब चुके होते ।

संसार निस्संदेह परिवर्तनशील है, पर "साहित्य माधुरी" में न कभी परिवर्तन हुआ, न हो रहा है, और न होगा ही। आज तक कितने परिवर्तन हुए, कितने आन्दोलन हुए, कितनी हलचल हुई, पर पूछो तो, इस रस-माधुरी पर भी कोई आघात पहुँचा, इसका भी कभी कोई रूपान्तर हुआ। ज्ञानियों और दार्शनिकों में वाद-विवाद खड़े हुए, संप्रदायों में दलादली हुई, राजनीतिज्ञों के ज़माने ने पलटा खाया, विज्ञानियों ने विद्युत् और वाष्प में नित्य नये आविष्कार किए, किन्तु यह माधुरी सदा अक्षुण्ण ही रही, एक रस ही रही। सब कुछ जूठा हो गया, पर यह अनूठी की अनूठी ही बनी रही। कितने रसिकों ने इस प्याले से ओंठ न लगाए होंगे, पर यह आज तक जूठा न हुआ ।

क्यों ? इसलिए कि यह इस लोक की निधि नहीं है, भ्रामक जगत् की धरोहर नहीं है। किसी के मत में साहित्य-माधुरी कोरी कल्पना है और किसी की राय में केवल मनोरंजन या कभी-कभी चाटने के लिए चटपटी चटनी है। पर, वास्तव में ऐसा कहनेवाले शब्द-रत्नों के जौहरी नहीं। ऐसा वे कहेंगे जिन्हें नीरस कामधंधों के मारे इसे पान करने की छुट्टी नहीं, जिनकी आँखें क्षणिक ऐश्वर्य और भोगविलास की चकाचौंध से चौंधिया गई हैं, जिनके पास कसकीला या जख्मी दिल नहीं है। साहित्य-माधुरी रसज्ञों के लिए कोरी कल्पना नहीं है। वह तो उनकी दृष्टि और सृष्टि में उतनी ही सच्ची है जितनी आस्तिक के लिए ईश्वर की अस्ति। वह केवल चटपटी चटनी नहीं, वरन् सदा के लिए तृप्त कर देनेवाली सुधा है। सब कुछ है, पर इस माधुरी का रहस्य ,इस रत्न का जौहर केवल काँच के टुकड़े परखने वाले क्या समझ सकते हैं !

मत्वा पदग्रंथनमेव काव्यं,
मंदाः स्वयं तावति चेष्टमानाः।
मज्जन्ति वाला इव पाणिपाद
प्रस्पन्दमात्रं प्लवनं विदन्तः ॥

——नीलकंठ दीक्षित

अर्थात् कविता के रहस्य को न समझनेवाले केवल तुक-बन्दी को ही काव्य रचने का प्रयत्न करते हुए उन बालकों की भाँति डूबते हैं, जो हाथ पैर फटफटाने को ही तैरना समझकर पानी में कूदने का साहस कर बैठते हैं।

मैं इन विद्वच्चक्र-चूड़ामणियों को दूर से ही नमस्कार करता हूँ। ये भलेमानस न तो साहित्य-माधुरी को नष्ट ही कर सकते हैं, और न उस पर किसी भाँति की कलंक-कालिमा ही पोत सकते हैं। मैं तो उन रसिक मधुव्रतों का एकांत उपासक हूँ जो इस माधुरी मकरंद के पीछे उन्मत्त हो घूम रहे हैं, जो इस शुष्क-युग में भी सदा यही सुना करते हैं कि:——

"ऐहै बहुरि वसन्त-ऋतु ,इन डारिन वै फूल।"

—बिहारी

सच्चे आशावादी साहित्य रसिक ही हैं। न जाने सुकवि हाली ने क्यों यह निराशा जनक शेर लिख मारा—

शायरी मर चुकी अब जिन्दा न होगी, यारो !
याद कर करके उसे जी न कुढ़ाना हर्गिज ।।

जनाब हाली की राय में अब शायरी कभी जिन्दा ही न होगी, वह सदा के लिए मर चुकी ! ठीक, पर साहब, आपको यह भी साफ साफ खोल देना चाहिए था कि शायरी किनके लिए मर चुकी। जिन्हें शायरी में सत्य और श्रेय की झलक नहीं मिलती, जिनके लिए साहित्य केवल कोरी कल्पना ही है, उनके लिए तो वह पहले से ही मुर्दा थी जिन्दा ही कब थी ? पर जो उस पर सौ जान से फिदा हो रहे हैं, योगी हो गली-गली अलख जगा रहे हैं, नशा सा पिए झूमते फिरते हैं, उनके लिए भला शायरी कभी मर सकती है, साहित्य-माधुरी लुप्त हो सकती है ? कभी नहीं, हर्गिज नहीं।

भले ही कोई नीरस बाँस को चूसे, पानी से घी वा धूल से तेल निकाले अथवा आकाश-वाटिका से सुमन-संचय करे हमें कोई आपत्ति नहीं। हम गँवार लोग तो अपनी सीधी-साधी बुद्धि को उच्च सिद्धांतों में न उलझा कर साहित्य माधुरी के आस्वादी ही बनना चाहते हैं। भले ही हमें कोई 'ओल्ड फूल' या खूसट की उपाधि से भूषित करे—हम अपने सिद्धांत से टस से मस होने के नहीं। किस से कहें और क्या कहें।

हम लोगों को जितना आनन्द इस साहित्य माधुरी में मिलता है, उतना इस लोक में तो क्या, उस लोक में भी न मिलता होगा, वह अत्युक्ति नहीं सिद्धांत है। इस लोक का आनन्द इसी माधुरी द्वारा ही तो प्रत्यक्ष होता है उस पार की छटा इसी माधुरी माधुरी के चौका पर आरूढ़ होने पर ही तो दृष्टिगोचर होती है।

१२—रामलीला

सियाराम शरण गुप्त

[सियारामशरण गुप्त का जन्म चिरगाँव, झाँसी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में सन् १८९५ ई० में हुआ। आप आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवर्त्तक श्री मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। श्वास रोग से पीड़ित रहते हुए भी निरन्तर साहित्य-सृजन करते रहते हैं। मुख्यतः कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। आर्द्रा, पाथेय, विषाद, उन्मुक्त, दैनिकी, बापू आदि प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। 'नारी' और 'गोद' दो सुन्दर उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। 'झूठ-सच' निबन्धों का संग्रह है।

सियारामशरण गुप्त के साहित्य में सर्वत्र करुणा की धारा प्रवाहित हो रही है। ग्रामीण पात्रों का बड़ी ही ममता और सादगी से आपने निर्माण किया है और बतलाया है कि जिन्हें हम निम्नवर्ग का समझते हैं वे कितने उदार और आदर्श हैं। आपकी कविताएँ युग जीवन के साथ कदम से कदम मिला कर चलती हैं और उनमें सम सामयिक जीवन की बड़ी करुण झाँकियाँ हैं।

'रामलीला' लेखक का एक रोचक संस्मरण है। प्रौढ वय से चलकर कलाकार का अन्तर्मन शैशव के प्रांगण में पहुँच जाता है और बच्चों की रामलीला देखकर की गई चेष्टाओं में उसे अपना बचपन याद आता है और न केवल लेखक को बल्कि पाठक को भी अपने बीते बचपन की कई स्मृतियाँ हठात् से आती हैं। यही लेखक की खूबी और सफलता है।]

बच्चों की आजकल गरमी की छुट्टियाँ हैं। उनका दिन तो बारह

को जगह चौदह घंटे से अधिक की छलाँगें नहीं भरता, पर आनन्द उनका राम के युग जैसा ही है। न धूप का भय न लू का। तपती हुई गच भी उनके विचरण में बाधक नहीं होती। इधर से उधर और उधर से इधर उनकी फौज दौड़तो ही रहती है। इस दोपहरी में जिस समय हम घंटे आध घंटे को झपकी लेना चाहते हैं, उसी समय वे इतने प्रबल रहते हैं, जितने लंका के नागरिक भी निशाकाल में न होते होंगे।

नीचे के कमरे में किवाड़ और खिड़कियाँ बंद करके सोने का प्रयत्न कर रहा था, किंतु सफलता नहीं मिली। रह-रहकर यहीं से टोह पाता रहा कि ऊपर छत पर लालू के सवार किसी नये काम से छूटे हैं।

जानता हूँ, ऊपर की खुली छत के दोनों ओर जो कमरे हैं, वहाँ लालू रामलीला की तैयारी कर रहा है। उसी से मालूम हुआ था कि राम और लक्ष्मण का पद किसे दिया जायगा, रावण और मेघनाद बनने की योग्यता किसमें है और कागद के बने हुए द्रोणाचल को हथेली पर उठाकर लंका तक ले जाने का काम कौन करेगा। लालू के लिए एक ही समस्या पेंचीली थी कि सीताजी कहाँ खोजी जायँ। रामलीला मंडली में लड़के ही लड़कियों का काम करते हैं, किंतु नाटक और सिनेमा में ऐसा नहीं होता। लालू का झुकाव इसी ओर अधिक है। उसके विचार से सीता का काम ऐसा है भी नहीं कि कोई लड़की उसे निभा न ले जाय। ब्राह्मण का रूप धरकर जब रावण आ जाय तब जोर-जोर से चिल्लाना, यह कहना कि हे रामजी, हे लखनलालजी, कहाँ हो,––बस इतना काम है। धनुष उठाकर तोड़ने के जैसा कुछ भी न करना पड़ेगा, हाथ में केवल जयमाल लिये रहनी होगी।

इसी प्रश्न को लेकर अभी भाई-बहन में लड़ाई भी हो चुकी है। लालू ऊपर से चिल्ला रहा था––'माँ, चंपो को बुला लो; पीट दूँगा तो कहोगी। भला मैं छोटी बहन को कैसे सीता बना दूँ?' और इसके थोड़ी देर बाद चंपा का रोना भी यहीं से मैंने सुन लिया है।

इसी समय देखा, लालू का प्रिय सखा गंगू किवाड़ में धीमे से साँस

करके देख रहा है कि मैं जाग तो नहीं रहा। कुछ देखकर और कुछ अनुभव करके मैंने जाना कि दबे पैर भीतर आ कर आले में रखी हुई गोंददानी वह उठा ले गया है। गोंद की सहायता से राम के राजमुकुट में रंग-बिरंगे कागज़ रत्न का रूप देकर जड़े जाएँगे।

तभी याद आ गयी बचपन के अपने उन दिनों की, जब रामलीला की तैयारी इसी प्रकार मैं भी करता था। उन दिनों की भांति आज मुझमें दीख नहीं पड़ती। फिर भी पाता हूँ, राम चिरन्तन है, रावण चिरन्तन है। तुलसीदास के प्रतिकल्प में अवतरने वाले जिस प्रभु को पाया है, उसे पा सकना मेरे लिए सहज नहीं। किन्तु प्रत्येक पीढ़ी में किसी न किसी रूप में उतरनेवाले अनन्त राम की अनुभूति मैं भी कर सकता हूँ।

× × × ×

बाड़े के पीछे आज जहाँ पक्का घर खड़ा है वहाँ उस समय एक लम्बी खपरैल थी। उसमें ढोर-डंगर बँधते थे। खुले में चारे की ऊँची गजी लगती थी और एक ओर वहीं कंडे पाथे और सुखाये जाते थे। घर का घूरा भी उसी स्थान पर था। यह सब होते हुए भी हम सब वहीं पहुँचते। दूध न देने-वाली गायें दूसरी जगह भेज देने से जो जगह खाली हुई थी उस पर हमारा अधिकार था। वहाँ हम दौड़ सकते थे, चिल्ला सकते थे और एक दूसरे को पीटकर अपने झगड़े किसी बाहरी पंच की सहायता के बिना स्वयं सुलझा कर फिर से खेल सकते थे।

रामलीला त्रेता में हो या कलियुग में, झगड़ा सीता को लेकर होना ही चाहिए। सीता का काम मैंने कमल को सौंपा था। उसे विश्वास था कि पहनने के लिए घँघरियाँ और फरिया वह अपने घर से शकुन्तला की ले आयगा। इसके बाद किसी दूसरे का दावा सीता का चल भी नहीं सकता था। गुल्लू हम सबमें ऊँचा था और उसने स्वयं भी प्रस्ताव किया था कि वह रावण बनेगा। मैंने कहा—पहले देख लेने दो कि तुम्हारे मुंह पर काले रंग के दस छापके कैसे जँचते हैं। इसमें भी उसे विरोध न था। उसे दशानन

बनाने की चित्रकारी में मैंने हाथ लगाया ही था कि कमल हँसी के मारे लोट-पोट हो गया। ताली पीटकर उसने कहा—'भागो भाई, भागो; भूत आ गया !' रावण को भूत कहना अनुचित था, उस रावण को जो लंका का राजा है और जिसे मारने का बल मुझे ही मिल सका था। किन्तु मेरे फटकार देने पर भी कमल ने बात नहीं मानी और दूसरे लड़के भी उसी के सहयोगी बन बैठे। इस पर गुल्लू ने वह किया जो उसे करना नहीं चाहिए था। काला रंग लेकर उसने कमल के मुंह पर पोत दिया। मैं चिल्लाया—"उसे क्यों छू दिया;, जानते नहीं हो, उसे सीताजी बनना है।"

"जानते नहीं हो मुझे रावण बनना है, जो तुम्हें ठीक कर देगा"—गुल्लू ने भी वैसे ही स्वर में उत्तर दिया !

मैंने निश्चय किया कि गुल्लू मूर्ख है, उसे रावण नहीं बनाऊँगा। रावण ऐसा होना चाहिए जो भूलकर भी सीता को न छुए। छुएगा तो भस्म होकर ढेर हो जायगा। मैंने उसी समय कड़ककर आज्ञा सुना दी,—"निकल जाओ यहाँ से।"

"मुझे निकालनेवाले तुम कौन होते हो ?"

"मैं—मैं राम हूँ !"

"ऐसे राम बहुत देखे हैं, कहो तो एक धक्के में सात गुलाँटें खिला दूं।"

कमल रो रहा था कि उसका कुरता बिगाड़ दिया, माँ पीटेंगी। अपराध ऐसा न था कि गुल्लू को अछूता छोड़ दिया जाता। आगे बढ़कर मैंने दो चार हाथ जमा ही दिये। इस पर ऐसी गड़बड़ मची कि उस दिन का किया कराया सब चौपट हो गया।

दूसरे दिन ठीक समय पर हम सब फिर वहीं दिखायी दिये। यह उतना ही स्वाभाविक था, जितना कुछ देर के लिए बादल में छिपकर सूर्य पुनः अपने ही ठिकाने पर चमकने लगे।

गुल्लू से मैंने पूछा—तुम्हें हो क्या गया था, जो तुमने कल वैसा उत्पात किया ?

उसने उत्तर दिया—मैं तो रावण था। मेरा जी करने लगा कि कमल को गेंद बना कर ऊपर फेक दूं। फेंककर उसे गुपक लेना मेरे लिए कठिन न था।

मैं सोचने लगा,—तो इस पर साँच-माँच के रावण की छाया पड़ गयी थी क्या ? अपने सम्बन्ध में भी मैंने विचार किया किन्तु याद नहीं पड़ा कि मैंने उस समय कौन सी महत्व की बात सोची थी। दबे हुए स्वर में कहा—राम किसी को दुख नहीं देते। इसी से धकियाकर ही तुम्हें छोड़ दिया था।

तभी एक साथ मेरा ध्यान कमल की ओर गया। वह लड़की की तरह रोने लगा था और उसने यह तक नहीं सोचा कि उसे तो सीताजी बनना है! इस सम्बन्ध में गुल्लू का मत मुझसे भिन्न था। उसने उदाहरण देकर कहा—अयोध्याजी की मंडली तक में सीताजी रोयीं थीं। जो रो न सके वह सीताजी कैसे बनेगा।

बात नयी न थी, फिर भी ऐसी सीताजी के लिये क्लेश हुआ। कुछ-कुछ ऐसी बात के सिलसिले में ही एक बार मैंने दद्दू से कहा था—रामलीला में सीताजी को हथियार दे दिये जाते तो उन्हें रोना न पड़ता। देवी की तरह हथियार से रावण के सिर काटकर वे उसी समय फेंक देतीं, जब वह उन्हें चुरा ले जाने ! लिए आता। फिर तो लंका के ऊपर चढ़ाई भी न करनी पड़ती। इस पर मुझे यह याद दिलाया गया था कि रावण मुनि का भेख बनाकर भिक्षा लेने आया था। भिखारी की इच्छा पूरी न करके यदि सीता उसे मार डालती तो उन्हें पाप लगता।

मैंने गुल्लू से कहा—तो कमल से बचन ले लिया जाय कि जब मैं कहूँ तभी वह आँसू गिरा सकता है। मैं रोक दूं तो उसे रुकना पड़ेगा। उसी समय तुरन्त। रामजी की बात सीताजी टाल नहीं सकतीं।

अब हमारी तैयारी और आगे बढ़ चुकी थी। पड़ोस में विवाह के कारण बाहर के कई नये लड़के न्यौते आये थे। वे भी हमारी मंडली में आ मिले।

छोटे बच्चों के कारण हमारे काम में रुकावट पड़ती थी, परन्तु एक लड़का नंदू उनमें बड़े काम का था। उसने आसानी से हनूमान के लिए कपड़े की पूँछ बना दी। मिट्टी का तेल छिड़ककर एक लत्ता उसके भीतर रख देना भी वह नहीं भूला। अपनी धोती में यथास्थान खोंसकर उसने बताया कि कितनी बढ़िया पूँछ है। वह इस शर्त पर उसे देने के लिए तैयार था कि हम उसे हनुमान बना दें।

गुल्लू ने कहा—यह नहीं हो सकता। अपनी पूँछ हम अपने आप बनायेंगे। रंजन ने भी विरोध किया, क्योंकि पहला हनुमान वही था।

नंदू निश्चित था कि ऐसी पूँछ किसी के बनाये न बनेगी। कमर में उसे पीछे की ओर खोंसे हुए वह हमसे अलग एक ओर जा बैठा। आशय उसका स्पष्ट था कि उसे देख-देखकर हम लोग जलें। हमने कहा—दुष्टता क्यों करते हो, जाओ यहाँ से।

उसका कहना था—हम यहीं बैठेंगे, तुम हमें क्यों छेड़ते हो? तब गुल्लू को रोष आ गया और बड़ी कठिनाई से रावण और हनूमान का वह युद्ध बरकाया जा सका। किसी ने सुझाया कि हम लोग दूसरी जगह जाकर खेलेंगे। पलायन की यह नीति उसी समय ठुकरा दी गयी।

मैंने अपने पुराने हनुमान् से कहा—यहाँ से वहाँ तक, जहाँ वह गुल्लू खड़ा है सौ जोजन का सागर है। इसे एक छलाँग में पार करना होगा। छलाँग मारकर देखो तो?

इधर हम लोग यह हिसाब लगाने में व्यस्त थे कि यह भूमि सौ योजन से अधिक तो नहीं है, उधर दूसरी ओर नया काण्ड उपस्थित हो गया। हमारा एक साथी कहीं से एक दियासलाई की डिब्बी ले आया और नंदू के पीछे जाकर चुपके से उसने पूँछ में आग छुआ दी। नंदू हड़बड़ाकर उठा और उसने जलती हुई पूँछ निकालकर आगे की ओर फेंक दी। 'कौन था, किसने किया' की आवाजें उठने के पहले ही आग लगानेवाला अंतर्धान हो चुका था।

कपड़े की पूँछ आग पकड़ चुकी थी और उसमें से ऊपर उठी हुई लौ इस प्रकार आगे-पीछे डोल रही थी, जैसे किसी साथी को छू लेने की क्रीड़ा में हो। नीचे पड़ा हुआ चारा भी जल रहा था और उसमें से उड़ती हुई छोटी-छोटी चिनगारियाँ उस ओर जा रही थीं, जहाँ चारे की ऊँची गंजी लगी थी।

जो संकट सामने था, उसे सबने स्पष्ट रूप से समझ लिया। चारे की गंजी ने आग पकड़ी नहीं कि पूरे के पूरे महल्ले में सुन्दरकांड का दृश्य दिखाई देने लगेगा। पलक मारते न मारते हमारे सब साथी वहाँ से भागे।

मैंने क्या सोचा, क्या समझा और क्या किया, इसका स्मरण मुझे नहीं। आगे जो कुछ हुआ उसी के आधार पर समझ में आता है मैंने लकड़ी जैसी कोई वस्तु आस-पास खोजी होगी, जिसके द्वारा जलती हुई पूँछ को चारे से दूर हटा सकूँ। वैसे ढ़ेरों लकड़ियाँ दिखाई दें, किन्तु जब तत्काल आवश्यकता हो तब छोटी सी छिपटी भी नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में पता नहीं लकड़ी का काम हाथ से लेने की बात न जाने कैसे सूझी। हाथों से पानी जैसा उलीचकर वह पूँछ कब मैंने वहाँ से दूर कर दी, इसका ध्यान मुझे भी नहीं है। यह याद है, उसी समय लकड़ी हाथ में लिये हुए गुल्लू को देखकर संतोष हुआ। उसने आकर उस जलते हुए संकट को दूर कर देने में सहायता दी।

आग वश में आ चुकी थी, किन्तु मेरे दोनों हाथ बुरी तरह जल रहे थे। दौड़कर मैं एक ओर छटपटाकर गिर पड़ा। इतनी देर में कुछ दूसरे लोग दौड़कर आ गये थे जो लहरें लेते हुए मारे जा चुके साँप जैसा व्यवहार उस पूँछ के प्रति कर रहे थे।

उस रात हथलियों में जलन के कारण बहुत पीड़ा रही। ड़र था कि दद्दू ऐसा खेल खेलने के लिए बहुत बिगड़ेंगे। यह आशंका भी बहुत थी कि अब हमें रामलीला न करने दी जायगी। किन्तु मेरा भय निर्मूल निकला। यह उस समय जान सका, जब कमरे में दिये के उजाले में अपने सिहराने बैठे हुए दद्दू की आँखों में आनन्द के आँसू देखे। सान्त्वना देकर उन्होंने कहा

था—बेटा घबरा मत। यह लीला उन्हीं प्रभु की थी! तेरे भीतर उस निमिष में जन्म लेकर उन्हीं ने हम सबको संकट से उबारा। अपने मन्दिर में राम-जन्म का उत्सव कल झालर-घंटे के साथ मनेगा। शंख में फूँक उस समय तुझे ही देनी होगी।

× × × ×

आज मैं दद्दू की जगह और लालू मेरी जगह है। रामलीला के उत्सव में इस दोपहरी में उसने मुझे झपकी नहीं लेने दी। इस समय ऊपर के कमरे में लड़के मिलित स्वर में रामायण की चौपाइयाँ उसी प्रकार गा रहे हैं, जिस प्रकार हम भी कभी-कभी गाया करते थे। मेरी कामना है, दद्दू के वे प्रभु एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में इसी प्रकार अवतरित होते रहें। उनकी लीला का प्रभाव कभी खण्डित न हो।

१३–प्राचीन और नवीन

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

[बख्शी जी का हिन्दी साहित्य के द्विवेदी युग के निबन्ध लेखकों में प्रमुख स्थान है। आपके निबन्धों में व्यञ्जना की वक्रता नहीं परन्तु सरलता का गम्भीर ओज है। अध्ययनशील और दार्शनिक मनोवृत्ति ने आपके निबन्धों को युग का प्रगति गौरव प्रदान किया है। चाहे आज के आवेश शील पाठक उनके निबन्धों में युग की प्रगति का आभास न पावें परन्तु निःसन्देह आपके निबन्धों में प्रगति का एक ठोस धरातल है जो प्राचीनता की आधार शिला पर अटल आसन जमाये है। आप प्रगति का अर्थ आत्म-परिवर्तन नहीं, रूप विकास मानते हैं जो कि सच्चे भारतीय का सिद्धान्त रस है। 'प्राचीन और नवीन' में इसी मान्यता की झलक है। भारतीय वाङ्मय ने विराट् पुरुष का अणोरणीयान महतो महीयान् रूप देखा है। अतः इस साधक ने उसी रूप की साधना अपने निबन्धों में व्यक्त की है। आपकी कहानियों में भी इसी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

इनकी रचना में ही इनके व्यक्तित्व का मूल है। आपका स्वभाव सरल परन्तु गम्भीर है। वर्षों की साहित्य साधना के बाद भी लक्ष्मी का अभिशाप ही आपके पल्ले पड़ा। तथापि आपके संतोष का लोहा लक्ष्मी को मानना पड़ा है।

आपका जन्मस्थान मध्यप्रान्त का खैरागढ़ है। बी० ए० तक आपने शिक्षा प्राप्त की है। 'सरस्वती' प्रयाग का सम्पादन दक्षता के साथ १९२० ई० से आठ वर्ष तक किया। इलाहाबाद की 'छाया' के भूतपूर्व सम्पादक

हैं। इस समय खैरागढ़ हाई स्कूल के अध्यापक हैं। इधर 'सरस्वती' को निष्प्रभ होते देख पुनः नव प्रभा और ओज दान के विचार से इसका सम्पादन कार्य सँभाला है।

आपकी रचनायें—पंच पात्र, हिन्दी साहित्य विमर्श, विश्व साहित्य (निबन्ध ग्रन्थ), शतदल (कविता) और कुछ अप्रकाशित निबन्ध और कविता संग्रह हैं।]

लाल रणजीतसिंह न रहे। जीवन और मृत्यु की इस लीला-भूमि में किसी की मृत्यु का समाचार सुनकर कोई क्षुब्ध नहीं होता। काल के गर्भ में अनन्त जीवन-धाराएँ लुप्त होती रहती हैं। तब एक जल-बिन्दु के निपात से किसका गोत्र कंपित हो सकता है? परन्तु, आज मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मानो मुझे वृद्धावस्था ने आकर घेर लिया है। मेरे देखते ही देखते एक-एक कर कितने ही लोग चले गये। न जाने कहाँ, किस लोक में, एकत्र होकर वे सब मेरी राह देख रहे हैं। क्या कभी फिर उनसे भेंट होगी?

लाल रणजीतसिंह इलाहाबाद आये थे। उन दिनों मैं जैन बोर्डिंग के सामने एक छोटे से मकान में रहता था। वहीं लाल साहब आकर ठहर गये। उन्हीं दिनों में मेरे और भी दो मित्र आये हुए थे। एक थे जगदीश दूसरे थे महेश। एक साहित्य के आचार्य थे और दूसरे दशन शास्त्र के। प्रतिदिन दोनों में विवाद हुआ करता था। लाल साहब उपन्यासों के प्रेमी थे। उन्हें भी साहित्य चर्चा पसन्द थी। वे भी एक दिन उसी विवादमें सम्मिलित हो गये। आज यहाँ मैं उसी की बात लिख रहा हूँ।

सन्ध्या हो गई थी। मैं 'इण्डियन प्रेस' से काम करके घर लौटा। महेश और जगदीश दोनों बैठे बातें कर रहे थे। मेरे आने पर लाल साहब भी वहीं आकर बैठ गये और महेश से कहने लगे—मैं आज एक उपन्यास पढ़ रहा था। वह है तो एक विख्यात लेखक की कृति, पर उसे पढ़कर मुझे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आधुनिक कथा-

साहित्य रस से हीन होता जा रहा है। आज कल उपन्यासों में चरित्रों की सृष्टि के लिए उतनी चिन्ता नहीं की जाती जितनी चरित्रगत विशेषता का विश्लेषण करने के लिए की जाती है।

महेश ने कहा—पर सत्य के अनुसन्धान में ही आनन्द की उपलब्धि होती है और चरित्र-वैचित्र्य का विश्लेषण करने से ही हम सत्य को जान सकते हैं।

जगदीश ने कहा—यहीं तुम भूल रहे हो। मनुष्य-जीवन कोई रासायनिक पदार्थ नहीं है, जिसका विश्लेषण कर आप तत्व निकाल सकें। मनुष्य को खण्ड खण्ड कर देखने से हम कभी उसके जीवन का रहस्य नहीं जान सकते। वह जैसा है, हमें ठीक उसी रूप में ,समग्र भाव से ही, उस पर विचार करना चाहिए। जहाँ जीवन की संपूर्णता है, वहीं दृष्टिपात करने से हम जीवन का यथार्थ तत्व जान सकेंगे। इसीलिए प्राचीन काल में महत् चरित्रों की सृष्टि की जाती थी। पर, आजकल उपन्यासों में व्यक्तिगत वैचित्र्य को ही स्पष्ट करने के लिए यत्न किया जाता है।

लाल साहब ने कहा—संसार में छोटे-बड़े सभी तरह के मनुष्य रहते हैं। वे सदैव महत्वपूर्ण कार्यों में निरत नहीं रहते। अधिकांश का जीवन-काल ऐसे ही कार्यों में व्यतीत होता है जो तुच्छ कहे जाते हैं। मनुष्य अपने जीवन में सुख-दुःख का अनुभव करता है। कभी वह किसी से प्रेम करता है तो कभी किसी से घृणा करता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह के चक्र में वह पड़ा रहता है। मनुष्यों का यह दैनिक जीवन क्या उपेक्षणीय है ?

जगदीश ने उत्तर दिया—तुच्छ कार्यों में निरत रहने पर भी मनुष्य इतना अवश्य अनुभव करता है कि उसका जीवन इतना ही नहीं है। उसके हृदय में यह विश्वास छिपा रहता है कि वह कुछ और भी है। उस 'कुछ और' को प्राप्त करने की वह चेष्टा भी करता है। इसलिए, वह जब किसी में किसी प्रकार की महत्ता देखता है तब उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्ति की महत्ता को समझता है, इसीलिए, शक्ति का अनुभव करना चाहता

है; और तब, मनुष्यों में शक्ति के जो प्रतिनिधि होते हैं, वे सभी उसकी कल्पना के विषय हो जाते हैं। यह सच है कि सभी समय मनुष्य किसी एक में ही शक्ति की पराकाष्ठा या महत्ता का आदर्श नहीं देखता,—उसका यह आदर्श बदलता रहता है। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि महत् भाव की ओर मनुष्यों को अग्रसर करने के लिए ही साहित्य की सृष्टि होती है। यदि साहित्य में केवल चरित्रगत विशेषताओं का ही विश्लेषण किया गया, तो उससे हम लोगों में कोई महत् भाव नहीं आ सकता।

महेश ने कहा—कथाओं के प्रति मनुष्य मात्रका जो अनुराग है, उसका कारण यह है कि एक मनुष्य स्वभावतः दूसरे को जानना चाहता है। पहले उसे कुतूहल होता है, फिर सहानुभूति। असाधारणता से केवल कुतूहल का उद्दीपन होता है, परन्तु, सहानुभूति के लिए साधारण बातें ही चाहिए। इसीलिए, जिन कथाओं में असाधारण विस्मयकर घटनाओं का विवरण रहता है, उनसे पाठकों को विनोद भले ही हो, पर उनसे उनके हृदय में सहानुभूति का भाव जाग्रत् नहीं हो सकता। सच तो यह है कि मनुष्य के चरित्र में जहाँ दुर्बलता है, वहीं हम लोगों की सहानुभूति उत्पन्न होती है। महत्ता से केवल विस्मय, आतंक या भक्ति आदि भावों का उद्रेक भले ही हो, परन्तु, पाठक उस महत्ता को अपना नहीं सकता। इसीलिए, जो उच्चकोटि के लेखक हैं, वे अपने पाठकों को असाधारण घटनाओं के फेर में नहीं डालना चाहते। वे उन्हें अपने प्रति दिन के सुख-दुःख की बातें बतलाते हैं। इन्हीं से पाठकों की सहानुभूति जाग्रत होती है। अच्छे लेखकों का सबसे अच्छा लक्षण यह है कि उन्हें पढ़ते समय हम तन्मय हो जाते हैं। सत्य सदैव सरल, सुन्दर और साधारण होता है। अतएव, जिनकी रचनाओं में सत्य की सरल और सुन्दर छवि आती है, उन्हीं के प्रति हमारा अनुराग होता है। जो लोग कथाओं से केवल कुतूहलोद्दीपन चाहते हैं, उनके लिए सत्य के ये सरल चित्र चित्ताकर्षक नहीं होते; परन्तु पाठकों के हृदय पर ऐसे चित्रों का प्रभाव पड़ता है।

जगदीश ने कहा—जब जाति की शक्ति क्षीण होने लगती है तभी वह महत्ता की ओर अग्रसर नहीं होती और तभी महत्ता में असाधारणता का अनुभव करती है। जब किसी जाति का उत्थान होता है, तब उसमें एक दैवी शक्ति-सी आ जाती है और तब वह असाधारणता की प्राप्ति के लिए ही उत्सुक होती है। साधारण बातें उसको बिलकुल तुच्छ जान पड़ती हैं। सच तो यह है कि इसी कारण से साहित्य का स्वरूप परिवर्तित होता है। भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मानव-समाज के उत्थान-पतन के साथ उनके आदर्श उच्च कोटि अथवा निम्न कोटि के होते हैं। वाल्मीकि और व्यास के युग में साहित्य का जो आदर्श था, वह कालिदास के युग में न रहा और न कालिदास का आदर्श मुगल-काल में रह सका। आधुनिक युग में दूसरे ही आदर्श ग्रहण किये जाते हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि हिन्दू जाति भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अतिक्रमण करती आई है। कथाओं में मानव जीवन की निरन्तर घटनाएं और उनकी उच्चतम अभिलाषाएँ छिपी रहती हैं। सच तो यह है कि इन्हीं कथाओं के द्वारा हम किसी भी जाति की जीवन-धारा की गति निर्दिष्ट कर सकते हैं। प्राचीनकाल में सभी देशों के साहित्य में हम विराट् भावों की प्रधानता देखते हैं। ये विराट् भाव जाति में तभी प्रचलित हुए हैं, जब उसमें विजय के लिए असीम उत्साह था। प्राचीन काल में राजा ही मानवी शक्ति का प्रतिनिधि होता था। वही जाति का गौरव-स्थल था। अतएव, वही जाति का आदर्श था। इसलिए सभी देशों के प्राचीन साहित्य में राजा का ही वर्णन है। राजा को आदर्श मानकर मनुष्यों ने उसी में अपनी समस्त इच्छाओं का चरम परिणाम देखना चाहा। ये राजा सबसे अधिक रूपवान् हैं। उनमें शवित भी असाधारण है। मनुष्यों में जो सर्वोच्च गुण हो सकते हैं, उन सबके वे आगार हैं। यह सब कुछ हाने पर भी इन कथाओं में किसी भी राजा का जीवन सुखमय नहीं है। बात यह है कि सुख और विलास उन्नतिशील जाति के लिए तुच्छ है। वह जानती है कि उन्नति के मार्ग पर कितने ही विघ्न

और बाधायें हैं,—कितने ही संकट और विपत्तियाँ हैं, उन्हीं सबको अतिक्रमण करने पर जाति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचती है। इसलिए, प्राचीन कथाओं के सभी नायकों को विपत्तियों का सामना करना पड़ा है, उनके शत्रु भी विकट थे। परन्तु अन्त में उन्होंने सभी शत्रुओं को पराभूत कर दिया। संकट में ये नायक कभी धैर्य-च्युत नहीं हुए। प्रलोभन में पड़कर कभी इनकी मति भ्रष्ट नहीं हुई। जब तक किसी जाति का साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ तब तक उसमें ऐसे ही आदर्श प्रचलित रहे। उसके बाद, धर्म की महिमा से महीयान व्यक्तियों के आदर्श स्वीकृत हुए। जब तक धार्मिक भाव प्रबल रहे, तब तक ये धार्मिक आदर्श भी प्रचलित रहे।—आधुनिक युग में एक ओर संशयावस्था है और दूसरी ओर विलासप्रियता। जो विज्ञान पहले प्रकृति के रहस्यमय द्वार का उद्घाटन करने के लिए प्रयत्नशील था, वह अब मानवजाति की विलास-सामग्री ढूँढ़ने में तत्पर है। न वह अदम्य उत्साह है और न वह प्रबल शक्ति। इसीलिए, विराट् चरित्रों की सृष्टि लोगों को असाधारण जान पड़ती है। मार्लो और शेक्सपीअर के नाटकों में इंगलैण्ड के विजयोल्लास और दर्प के चित्र हैं, परन्तु आधुनिक नाटकों में समाज की हीनावस्था के ही चित्र अंकित होते हैं।

महेश ने कहा,—तुमने जो कहा वह केवल सत्यांश है, संपूर्ण सत्य नहीं है। मनुष्यों को अपने जीवन के आरंभ काल में ही अपने पुरुषार्थ से एक अलक्षित शक्ति के साथ युद्ध करना पड़ा। पद-पद पर उसने उस अलक्षित शक्ति का अनुभव किया। जब उसने प्रकृति की सारी शक्तियों को वशीभूत कर निर्जन वनों में विशाल नगर स्थापित कर लिये,—ऐसे नगर जहाँ वर्षा के अट्टहास और तड़ित के उग्र विलास में भी वह निःशंक होकर आत्म-विनोद करता था, ग्रीष्म के प्रचंड उत्ताप में भी निर्भय होकर विहार करता था,—तब भी उस अलक्षित शक्ति के सन्मुख उसे नतमस्तक होना पड़ा। पुराणों में तारकासुर की कथा मनुष्य-जाति के इसी पराभव की सूचना देती है। तारकासुर ने समस्त देवों को परास्त कर अपने राज्य-भवन में उनको

दास बनाकर रख छोड़ा था। उसकी आज्ञा के विपरीत न तो वायु चल सकती थी, न सूर्य प्रकाश दे सकता था और न इन्द्र वर्षा कर सकता था। परन्तु, उसे भी उस दुर्जय शत्रु से हार खानी पड़ी,—उसी शक्ति से वह पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने अन्त में उसका संहार कर डाला। पुराणों में जो कथाएँ वर्णित हैं, उन सब का लक्ष्य एक-मात्र यही है कि मनुष्य एक अलक्षित शक्ति के सर्वथा वशीभूत है; उसका सारा पुरुषार्थ उसके आगे व्यर्थ हो जाता है,—वही उसका भाग्य है, वही उसकी नीति है। एक कथा में यह कहा गया है कि हिरण्यकशिपु ने तपस्या द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर उससे यह वर मांगा कि वह देव, मनुष्य और पशु तीनों के लिए अवध्य हो, जल और स्थल पर न मारा जा सके, दिन और रात्रिमें उसकी मृत्यु न हो। इस प्रकार वर माँगरकर वह मानो उस अलक्षित शक्ति को भी परास्त कर देना चाहता था। परन्तु, नियति ने उपहास करके उसे उससे मरवाया जो न मनुष्य था, न देव था, न पशु था। था वह नृसिंह। न जल पर उसकी मृत्यु हुई, न थल पर उसकी मृत्यु हुई। मृत्यु हुई उसकी नृसिंह के अंक पर। न दिन में मरा न रात में। उसकी मृत्यु हुई संध्या में। सभ्यता के आदि काल में सभी देशों के मनुष्यों ने उस अलंघनीय, अदम्य, दुर्जेय शक्ति का अनुभव किया। ग्रीक-साहित्य का आदि काव्य 'इलियड' तो केवल नियति की ही कथा है। उसमें मनुष्यों की प्रचण्ड शक्ति, उदम्य-उत्साह,—सभी कुछ वर्णित है। परन्तु, उन सब के अन्त में ट्राय की निर्जन समर-भूमि में एक मात्र नियति अट्टहास करती हुई दिखाई देती है और चारों ओर मनुष्यों का केवल हाहाकार ही सुनाई पड़ता है। प्राचीन युग में मनुष्य जाति को बाह्य प्रकृति से विशेष प्रतिरुद्ध होना पड़ा। जबतक उसने अपनी अन्तरात्मा की महत्ता न देखी तब तक वह प्रकृति से पराभूत होने पर अदृष्ट शक्ति की महिमा को स्वीकार करती रही। परन्तु जब उसने अपनी अन्तः-शक्ति का अनुभव कर लिया तब बाह्य प्रकृति कीं शक्ति उसे तुच्छ मालूम होने लगी। धर्म की महिमा से महीयान मध्ययुग के संतों ने अन्तरात्मा की

विभूति का दर्शन करा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में अदृष्टवाद की जगह धर्म की अलौकिकता ने प्रधानता प्राप्त कर ली।—यह संभव है कि वह अलक्षित शक्ति सांसारिक शक्ति के द्वारा पराभूत हो जाय, परन्तु उसकी महिमा सांसारिक महिमा को अतिक्रमण कर एक अलौकिक जगत् में अपनी अचल महिमा स्थापित करती थी। इस प्रकार, उस शक्ति का पराभव कभी संभव न था। वह शक्ति सत्य की थी, वह शक्ति धर्म की थी। किन्तु उसका विकास केवल महान् आत्माओं में संभव था। इसीलिए मध्ययुग की कथाओं में महान् आत्माओं की गाथाएँ हैं, सर्वसाधारण की कथाएँ नहीं। आधुनिक मनुष्यमात्र में उसी शक्ति का अनुभव कर कवियों ने साधारण मनुष्यों को ही अपनी रचनाओं में नायक का स्थान प्रदान किया है। नीच हो या क्षुद्र, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके अन्तर्जगत में उस ज्योतिर्मय शक्ति की लीला न दिखाई पड़ती हो। साधारण मनुष्यों के दैनिक जीवन में भी,—उनके साधारण सुख-दुःख और पाप-पुण्य के क्रिया-कलापों में भी, जीवन की एक संपूर्णता है, जिससे समस्त विश्व में एक ही भाव, एक ही शक्ति, एक ही सत्ता का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

मैंने कहा—आधुनिक साहित्य में विराट् चरित्रों की अथवा महत् भावों की प्रधानता क्या संभव ही नहीं है? तुम लोगों के विवाद से तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कवि केवल अपने युग की एक वस्तु-मात्र है। मानो उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है ही नहीं। मेरी समझ में तो जिनमें प्रतिभा है, वे मौलिक चरित्रों की सृष्टि अवश्य करते हैं। वाल्मीकि हों या होमर, कालीदास हों या शेक्सपीयर, स्काट हों या बंकिमचन्द्र,—चरित्रों की सृष्टि में उनका विशेष कर्तव्य प्रकट होता है। यदि प्राचीन काल के कवियों में प्रतिभा थी, तो आधुनिक काल के कवियों में प्रतिभा का अभाव नहीं हो गया है। मैं तो यह समझता हूँ कि आधुनिक उपन्यासों का रहस्य जानने के लिए कथाओं का अनुसंधान नहीं करना पड़ेगा। आधुनिक साहित्य

में कथाओं का एक दूसरा ही रूप हो गया है, उनका स्थान भी उच्च हो गया है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में महाकाव्यों का जो स्थान था, उसे अब आधुनिक उपन्यासों ने ले लिया है। प्राचीन महाकाव्यों में और आधुनिक उपन्यासों में जो भेद है, वह केवल रूप का। लक्ष्य दोनों का एक ही है। यह सच है कि महाकाव्य में जिन बातों का समावेश होता था, उनको अब कोई भी उपन्यासकार अपने उपन्यास में स्थान नहीं दे सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसकी कथा का रस ही नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार यदि महाकाव्यों में उन बातों को स्थान दिया जाय, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन उपन्यासकार करते हैं, तो उस महाकाव्य का कोई महत्व ही न रह जायगा। बात यह है कि विषय महत् होने पर भी उपन्यासकार की कला के साधन कुछ दूसरे ही होते हैं। अतएव यह कहना चाहिए कि प्राचीन काल से लेकर आज तक आप लोगों ने जिस वस्तु का विकास बतलाया है, वह केवल रूपका विकास है,—वस्तु का नहीं। रूप के लिए हम दूसरों का आश्रय ग्रहण करते हैं। परन्तु, वस्तु हम लोगों की अनुभूति का फल है। वाल्मीकि ने राम चरित का वर्णन किया है और तुलसीदास तथा केशवदास ने भी रामचन्द्र की कथायें लिखी हैं। विषय एक, रूप भी एक है; क्योंकि तीनों ने महा काव्य ही लिखे हैं; परन्तु भेद उनमें प्रत्यक्ष है और उसका एकमात्र कारण है उनकी पृथक् पृथक् अनुभूति।

महेश ने कहा—आप एक दूसरी ही बात की चर्चा करते हैं और हम लोगों का विवाद कुछ और ही था। परन्तु आपके इस कथन के विरुद्ध भी मैं कुछ कहना चाहता हूँ। साहित्य में कार्य-कारण का नियम उतना ही व्यापक है जितना बाह्य जगत् में। संसार में जब कोई कार्य होता है तब उसका एक कारण भी होता है। साहित्य में सहसा किसी ग्रन्थ की सृष्टि नहीं हो जाती। कवि शून्यता से सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए एक विशेष बाह्य स्थिति की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि जब तक उसके लिए समाज प्रस्तुत नहीं है, तब तक वह प्रकट भी नहीं होता। जो

भावनायें कवि के काव्य की उपजीव्य हैं, वे समाज में पहले से प्रचलित हो जाती हैं। यदि तुलसीदास के पहले भक्ति की भावना प्रबल न होती तो रामचरितमानस की सृष्टि भी न होती। सृष्टि होती तो ऐसे महाकाव्य की जो किरातार्जुनीय का दूसरा रूप होता है। यह भक्ति-भावना भी किसी कारण का परिणाम है। वह कारण क्या है, यह जानने के लिए हमें तत्कालीन और उसके पूर्ववर्ती इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। इतिहास और साहित्य में विशेष संबंध है,—साहित्य से इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहास से साहित्य। विद्वानों ने अब यह समझ लिया है कि साहित्य केवल कल्पना का क्रीडास्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि-मात्र है। वह अपन काल के मानसिक विकास का चित्र है। हम लोगों के विवाद का मुख्य विषय यह विकास ही था। प्राचीन काल, मध्य युग और आधुनिक युग में किन किन भावों की प्रधानता होने के कारण साहित्य में किस-किस आदर्श की सृष्टि हुई और उन आदर्शों के द्वारा जाति की कितनी उन्नति या अवनति हुई यह हम लोगों के विवाद का विषय था।

मैंने कहा—पर, वर्तमान साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी है। वर्तमान साहित्य का आदर्श है उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करना जिनके कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। आधुनिक साहित्य में तीन प्रकार के आदर्श स्वीकृत हुए हैं रियलिस्ट, आयडियलिस्ट और रोमेण्टिसिस्ट। संसार में जो घटनाएँ प्रति दिन होती हैं उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्ट कला-कोविदों का काम है। ऐसे लेखकों की रचना पढ़ते समय यही जान पड़ता है कि मानों हमने यह दृश्य स्वयं कहीं देखा है। यही नहीं, किन्तु उसके पात्रों के चरित्रों में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सादृश्य देख लेते हैं। आयडियलिस्ट लेखक एक आदर्श चरित्र के उद्घाटन की चेष्टा करते हैं। संसार की दैनिक घटनाओं में ऐसे भावों का समावेश करते हैं कि उनसे एक अपूर्व चित्र खिल उठता है। वह चित्र पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालता है।

पाठक अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श की उच्चता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नहीं करते; वे संसार की दैनिक घटनाओं से ही अपनी कथा के लिए सामग्री का संग्रह करते हैं। परन्तु, उनकी कृतियों में घटनाओं का ऐसा विन्यास किया जाता है कि उनमें कुछ भी अलौकिकता या असाधारणता ज्ञात नहीं होती। पाठकों के मन में यही बात उदित होती है कि ऐसा हमने देखा तो नहीं है, पर देखना अवश्य चाहते हैं। रोमेण्टिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। उसमें साधारण घटनाओं में भी एक असाधारणता का अनुभव कराया जाता है। आधुनिक साहित्य में इन तीनों आदर्शों का समावेश हो रहा है। मेरी समझ में यह मानना भ्रमपूर्ण है कि आधनिक साहित्य में रियलिज्म की ही प्रधानता है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही जान पड़ता है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा कर समाज के साथ उसका नैसर्गिक यथार्थ संबंध स्थापित कर दिया जाय। जो कृत्रिम, अश्रेयस्कर व्यवधान हैं, वे नष्ट कर दिये जायँ। इसीसे आधुनिक साहित्य में वर्तमान काल की सभ्यता के अन्धकारमय मार्ग पर परदा डालकर छिपाने की चेष्टा नहीं की जाती और उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि यह किस प्रकार ज्योतिर्मय हो सकता है।

महेश ने कहा—मैं भी यही कहना चाहता हूँ। आधुनिक साहित्य में मैं किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। यह सच है कि पहले विराट् चरित्रों की जैसी सृष्टि होती थी, वैसी सृष्टि अब नहीं होती। पर, आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देशकाल में आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों के नहीं रहे हैं। उनमें यथेष्ट स्वतन्त्रता आ गई है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा, आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, उसे हम शेक्सपीअर आदि की रचनाओं में देखते हैं। परन्तु अब यह बात नहीं है। आज कल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिए रोमियो-ज्युलियट अथवा एण्टोनी-क्लियोपेट्रा की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे

हमारा काम भी नहीं चलेगा। मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही जो एक सौन्दर्य-वृत्ति है, उसमें आजकल, समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उसके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ऑथेलो के समान सरल नहीं है। वह बड़ा जटिल हो गया है। 'क्राइम ऐण्ड पनिशमेण्ट' नामक उपन्यास में विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि उसके पात्रों में जहाँ एक ओर नीच प्रवृत्ति है, वहाँ दूसरी ओर दिव्य भावों की प्रधानता है। जॉर्ज मेरेडथ के 'दी ईगोइस्ट' का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास-भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबू के 'घर-बाहर' नामक उपन्यास में सन्दीप के चरित्र में भी वही जटिलता है। सच तो यह है कि आधुनिक उपन्यासों के कितने ही प्रसिद्ध नायकों के चरित्र ऐसे अंकित किये गये हैं कि जब हम उनके संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तब तो हमें उनके चरित्र में हीनता दिखाई देती है, पर सत्य की ओर लक्ष्य रखकर देखने से यही कहना पड़ता है कि उनमें उज्वलता भी है। वर्तमान युग परीक्षा का युग है। रस और तत्व का अपूर्व सम्मिलन हो गया है। सच्ची बात यह है रमेश बाबू, कि अतीत का सिर्फ गौरव ही अवशिष्ट रहता है, उसमें जो क्षुद्रता होती है, उसे काल नष्ट कर देता है। इसी से अतीत से तुलना करने पर हमें वर्तमान गौरवपूर्ण प्रतीत नहीं होता। सत्य की परीक्षा में घबड़ाकर कल्पना के विलास विभ्रम का आश्रय मत लीजिए।

लाल साहब ने कहा—आपका कहना सर्वथा उचित है। कल्पना द्वारा कम से कम उदर-पूर्ति की संभावना नहीं है और मेरे लिए सबसे अधिक आवश्यक यही है। बख्शीजी, आप देख तो आइए कि अब कितनी देर है। अगर अधिक देर हो तो कल्पना का आश्रय लेकर हम लोग क्षुधा को कुछ देर और रोक रखें।

लाल साहब ने इस प्रकार उस दिन विवाद का अन्त कर दिया।

आज लाल साहब नहीं हैं। केवल उनकी स्मृति रह गई है। लाल साहब की बातें जब मैं कर रहा था, तब मेरे एक साथी ने पूछा, "वे थे कौन ? उन्होंने काम क्या किया है ?" मैंने कहा, "भाई, वे कोई नहीं थे। छत्तीसगढ़ के एक छोटे कस्बे खैरागढ़ में उनका जन्म हुआ और वहीं वे जीवन-भर रहे। उन्होंने कोई भी बड़ा काम नहीं किया। हँसी-खेल ही में उन्होंने अपना जीवन व्यतीत कर दिया। पर अन्त तक उन्हें किसी ने भी कभी क्षण-भर भी खिन्न नहीं देखा। संकट किस पर नहीं आता, चिन्ता किसे नहीं होती, पर रणजीतसिंह ने हँसते हँसते जीवन की यात्रा समाप्त कर दी।

रहे तुम तो हँसते ही नित्य, सह लिया हँसकर विकट प्रहार।
और हँसते ही हँसते आज, छोड़कर चले गये संसार ॥
विज्ञ-जन रहते हैं उद्विग्न, क्योंकि यह है जीवन-संग्राम।
किन्तु तुमने तो रणजितसिंह किया हँसकर ही सार्थक नाम ॥

१४—विक्रम संवत्सर का अभिनन्दन

वासुदेव शरण अग्रवाल

[श्री वासुदेव शरण अग्रवाल का जन्म सन् १९०४ में हुआ। पुरातत्व और इतिहास की शोध-खोज ने आपकी दृष्टि को काफी उदार और व्यापक बना दिया है। आपके निबन्धों में देश की मिट्टी और जलवायु की गन्ध व्याप्त है। वे प्रकृत जन-जीवन और उसकी संस्कृति के प्रबल पक्षपाती हैं। लेखकों के लिए आपका प्रमुख सन्देश यह है कि उन्हें पृथ्वी का पुत्र बनना चाहिये; और अपनी भूमि और अपनी संस्कृति से रस और प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। जब तक अपने जन की आत्मा को छूने वाले साहित्य की सृष्टि नहीं होती हमारा इतिहास, शास्त्रीयज्ञान, वैज्ञानिक प्रयोग सभी कुछ आकाश बेल की तरह हवा में तैरते रहेंगे।

लेखक की शैली बहुत ही मनोरम, प्रौढ़ और मार्मिक है। विचार सुलझे हुए और भाषा प्रवाह मय। प्रायः सभी निबन्ध उच्चकोटि के और विद्वत्तापूर्ण हैं। 'पृथ्वीपुत्र', 'कल्पवृक्ष' आदि निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

इन दिनों भारत सरकार के राष्ट्रीय संग्रहालय के अध्यक्ष हैं और अथक परिश्रम करते रहते हैं।]

मैं सम्वत्सर हूँ—राष्ट्र के विक्रम का साक्षी, अतीत का मेरुदण्ड और भविष्य का कल्पवृक्ष। मुझसे राष्ट्र पोषित हुआ है। और मैं राष्ट्र में विक्रमांकित हुआ हूँ। भारतीय महाप्रजाओं के मध्य में मैं महाकाल का वरद प्रतीक हूँ। मेरा और राष्ट्र का गौरव एक है। मेरे विक्रमशील यश

की लिपि सब ओर अंकित है। गौरवशील शताब्दियाँ मेरी कीर्ति के जय-स्तम्भ हैं। मैं सोते हुओं में जागनेवाला हूँ। मेरे जागरणशील स्पर्श से युग-युग की निद्रा और तन्द्रा गत हो जाती है। महाकाल की जो शक्ति सृष्टि को आगे बढ़ाती है वही मुझमें है। मेरे सशक्त बाहुओं में राष्ट्र प्रतिपालित हुआ है।

मैं चलनेवालों का सखा हूँ। मेरे संचरणशील रथचक्रों के साथ जो चल सका है वही जीवित है। मेरे अक्ष की धुरी कभी गरम नहीं होती, धीर अबाधित गति से मैं आगे बढ़ता हूँ। पृथ्वी और द्युलोक के गम्भीर प्रदेश में मेरी विद्युत तरंगें व्याप्त हैं। उनसे जिनके मानस संचालित हैं उनकी निशा बीत जाती है।

मैं प्रजापति हूँ। प्रजाओं के जीवन में जीवित रहता हूँ। प्रजाएँ जब वृद्धिशील होती हैं तब मैं सहस्र नेत्रों से हर्षित होता हूँ। मैं आयुष्मान् हूँ प्रजाओं का आयुसूत्र मुझसे है। मैं प्रजाओं से आयुष्मान् और प्रजाएँ मुझसे आयुष्मान् होती हैं। उनके जिस कर्म में आयु का भाग है वही अमर है। प्रत्येक पीढ़ी में प्रजाएँ आयु का उपभोग करती चलती हैं, परन्तु वे समष्टि रूप में अमर हैं क्योंकि उनके प्रांगण में सूर्य नित्य अमृत की वर्षा करता है। सूर्य अहोरात्र के द्वारा मेरे ही स्वरूप का उद्घाटन करता है। मैं और सूर्य एक हैं। मेरे एक रस रूप में संवत् और तिथियों के अंक दिव्य अलंकारों के समान हैं। उसकी शोभा को धारण करके मैं गौरवान्वित होता हूँ।

मेरे अन्दर प्रजनन का अनन्त सामर्थ्य है। प्रज्यस्त्वभाव मेरा सच्चा स्वरूप है। सर्वसूत्रधात्री लोक नमस्कृता पृथ्वी के अंक में मेरे ही वरदान से प्रति वर्ष अनन्त सृष्टि होती है। जिस समय राष्ट्र की प्रजाओं में नवीन निर्माण की चेतना प्रस्फुरित होती है वही मेरे यौवन का काल है। नूतन रचना की जो शोभा है वही मेरी श्री है। रचना की शक्ति ही प्रजाओं में जीवन का

प्रमाण है। जिस युग में सबसे महान् रचना का कार्य हुआ है वह मेरे जीवन का स्वर्णयुग है। प्रत्येक प्रदेश का इतिहास सुवर्ण युगों से ही श्रीमान् बनता है। सुवर्ण-युग इतिहास की परम ऋद्धि हैं। जहाँ ऋद्ध भाव हैं वहीं इन्द्र का पद होता है। मैं इन्द्र का सखा हूँ। राष्ट्र के ऐश्वर्य में मैं इन्द्रपद को देखता हूँ। जिस युग में राष्ट्र का यश समुद्रों को लांघकर द्वीपान्तरों में फैल गया था और पर्वतों को पारकर देशान्तरों में पहुँचा था उसी युग में मैं अपने जीवन में धन्य हुआ था।।

मेरे कृतार्थ होने पर ही देश कृत कृत्य होता है। मेरे लिए हवि अर्पित किए बिना कोई जाति ऊर्जित नहीं होती। मैं ज्ञान और कर्म की हवि चाहता हूँ। सशक्त चिन्तन और सक्रिय जीवन के यज्ञ का मैं यजमान हूँ। मेरे विक्रम परक नामकरण के जो पुरोहित थे उन्होंने मेरे स्वरूप के यथार्थ भाव को समझा था। गणित के अंकों में समाए हुए मेरे रूप की जो अवहेलना करते हैं वे मूढ़ हैं। मैं महान् विक्रमांक हूँ सृष्टि के निर्माण में विष्णु ने विचंक्रमण किया, राष्ट्र के निर्माण में मेरा विक्रम है। राजर्षियों की परम्परा ने अपने विक्रम के वरदान से मुझे उपकृत किया है। विक्रम ही मेरा उपनिषद् है। मेरा आदि और अन्त अव्यक्त है। विक्रम का ओजायमान प्रवाह ही मेरे व्यक्त मध्य का सूचक है। उसमें प्रजाओं के जीवन का रस ओतप्रोत रहता है।

मैं पुराण पुरुष की तरह वृद्ध होता हुआ भी विक्रम के कारण चिरंतन यौवन का स्वामी हूँ। जिसका जीवन सदा उत्थानशील है वही मेरा निकट संबंधी है, अन्यथा मैं एक-रस काल के समान निर्लेप हूँ। सदोत्थायी राष्ट्र पर कृपा करके ही मैं तिथियों के दीप्त अंक अपने उत्संग में धारण करता हूँ। प्रजाओं के कर्मठ जीवन के जो पदन्यास विक्रमके साथ रखे गए, उन्हीं की छाप मेरे कालचक्र पर अमिट पड़ी है। उन चरणन्यासों के लिए यदि प्रजाओं के मन में श्रद्धा का भाव है तो उनका भावी जीवन अमर है। मैं

भूत के बंधन से भविष्य को बांधन के लिए अस्तित्व में नहीं हूँ, वरन अतीत के प्रकाश से भविष्य को आलोकित करने के लिए मैं जीवित हूँ।

जहाँ जीवन का रस है वहीं मेरा निवास है। रसहीन कर्म मुझे असत्य प्रतीत होता है। सत्य के आश्रय से ही जीवन में रस का श्रोत प्रवाहित होता है। निष्प्राण ज्ञान को मैं राष्ट्र का अभिशाप समझता हूँ। प्राणवंत ज्ञान व्यक्ति और समाज के जीवन को अमृत रस से वृद्धि के लिए सींचता है। जहाँ रस है वहाँ विषाद नहीं रह सकता। जिस राष्ट्र के रस तन्तुओं को विपक्षी अभिभूत नहीं कर पाते वह आनन्द के द्वारा अमृत पद में संयुक्त रहता है। जीवन रस की रक्षा, उसका संचय, संवर्धन और प्रकाशन ही व्यक्ति और राष्ट्र में अमृतत्व का हेतु है। मेरे रोम रोम में अक्षय्य रस का अधिष्ठान है। उस रस का लावण्य प्रति प्रभात में उषा की सुनहली किरणें मेरे शरीर में संचित करती हैं। जो विक्रम के द्वारा मेरे दिव्य भाव को आराधना करता है उसको पिता की भाँति मैं नवीन जीवन के लिए आशीर्वाद देता हूँ। मेरे पुत्र व्यष्टि रूप में मर्त्य होते हुए भी समष्टि रूप में अमर हैं।

उत्कर्ष मेरी वीणा के तारों का गान है। जागरण की बेला में जब विचारों का प्रचण्ड फगुनहरा चलता है, तब बसन्त का मूल मंत्र प्रजाओं को हरियाली से लाद देता है, और सोते हुए भाव उठकर खड़े हो जाते हैं। जब राष्ट्रीय मानस का कल्प वृक्ष इस प्रकार नूतन चेतना से पल्लवित होने लगता है तब मैं स्वयं अपने विक्रम के अभिनन्दन के साज सजाता हूँ। जब प्रजाओं के नेत्र तन्द्रा के हटने से खुल जाते हैं तब भूत और भविष्यके अन्तर को चीरकर दूर तक दृष्टिपात करने की उनमें क्षमता उत्पन्न होती है। राष्ट्र के कोष में जो ज्ञान की चिन्तामणि है उसके एक सहस्र अंशुओं को प्रजा सहस्र नेत्रों से देखने लगती है। जीवन के अप्रकाशित क्षेत्र नए आलोक से जगमगाने लगते हैं। उन्नति और प्रगति के नए पथ दृष्टि में आ जाते

हैं। पथ की धुंधली रेखाओं को मेरा विक्रमांकित अमर प्रदीप समय पर प्रकाशित करके जनता को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करता है। मै भूत काल के संचित कल्याण को इस हेतु लिए खड़ा हूँ कि भविष्य को उसका वरदान दे सकूँ।

जिस युग में गंगा और यमुना ने अनन्त विक्रम से हिमाद्रि के शिलाखण्डों को चूर्णित करके भूमिका निर्माण किया था, उस देव युग का साक्षी मैं हूँ। जिस पुरा काल में आर्य महाप्रजाओं ने भूमि की वन्दना करके इसके साथ अपना अमर संबंध जोड़ा था, उस युग का भी मैं द्रष्टा हूँ। वशिष्ठ के मन्त्रोच्चार और वामदेव के सामगान को, एवं सिंधु और कुभा के संगम पर आर्य प्रजाओं के घोष को मैंने सुना है। शतशः राजसूयों के वीणा गाथियों के नाराशंसी गान से मेरा अन्तरात्मा तृप्त हुआ है। राष्ट्रीय विक्रम की जो शत साहस्री संहिता है उसको इस नए युग में मैं फिर से सुनना चाहता हूँ इस इतिहास को कहने वाले कृष्ण द्वैपायन व्यासों की मुझे आवश्यकता है। परीक्षित के समान मेरी प्रजाएँ पूर्वजों के उस महान् चरित को सुनने के लिए उत्सुक हैं। 'न हि तृप्यामि शृण्वानः पूर्वेषां चरितम् महत्' मैं पूर्वजनों के महान् चरित को सुनते हुए तृप्त नहीं होता। योगी याज्ञवल्क्य, आचार्य पाणिनि, आर्य चाणक्य, प्रियदर्शी अशोक, राजर्षि विक्रम, महाकवि कालिदास और भगवान शंकराचार्य के यशोमय सप्तक में जो राग की शोभा है उससे मनुष्य क्या देवता भी तृप्त हो सकते हैं। मेरा आशीर्वचन है कि भारत के कीर्तिगान का सत्र चिरजीवी हो। प्रत्नकाल से भारती प्रजाओं के विक्रम का पारायण जिस अभिनन्दनोत्सव का मुख्य स्वर है, वही मेरा प्रिय ध्यान है। राष्ट्र का विक्रमांकित इतिहास ही मेरा जीवनचरित है। मेरे जीवन का केन्द्र ज्ञान के हिमालय में है। सुवर्ण के मेरु मैंने बहुत देखे, पर मैं उनसे आकर्षित नहीं हुआ। मेरे ललाट की लिपि को कौन पुरातत्ववेत्ता पढ़कर प्रकाशित करेगा ?

मैं काल रूपी महान् अश्व का पुत्र हूँ जो नित्य प्रति फूलता और बढ़ता है। विराट भाव की संज्ञा ही अश्व है। विस्तार और वृद्धि यही अश्व का अश्वत्व है। जब राष्ट्र विक्रम धर्म से संयुक्त होता है, तब वह मुझपर सवारी करता है, अन्यथा मैं राष्ट्र का वहन करता हूँ। मेरा अहोरात्र रूपी नाड़ी-जाल राष्ट्र के विवर्धन के साथ शक्ति से संचालित होने लगता है। मेरी प्रगति की इयत्ता नहीं है। यद्यपि मैं महार्णव के समान सदा अपनी मर्यादाओं का रक्षक हूँ तथापि विक्रम के ओज से मेरी उत्ताल तरंगें पृथ्वी और आकाश के अन्तराल को भरने के लिए उठती हैं।

मेरी आयु का एक-एक क्षण अमोघ है। ऋतुओं के साथ मैं ब्रह्मचारी हूँ। मेरी उत्पादन शक्ति से राष्ट्रीय इतिहास की जो ऋतु कल्याणी बनती है उसी का तेज और सौन्दर्य सफल है। राष्ट्रीय विक्रम की सहस्र धाराओं ने मेरा अभिषेक किया है। एक एक पुरुषायुष से जीवित रहनेवाली प्रजाओं के मध्य में मैं ही अमर हूँ। मेरा परिचय अनेक महान् आदर्शों के रूप में हुआ है।

हिमालय के प्रांशु देवदारुओं की तरह जो महापुरुष अपने चरित्र-योग से ऊपर उठे हैं उनकी स्मृति मेरे जीवन का रस है। चरित्र महान् करने का संकल्प जब व्यक्ति में और राष्ट्र में उठता है, तब मेरा प्राण सोते से जगता है। मेरी भूमि पर शाश्वत प्रतिष्ठा करने के लिए प्राणों को शक्ति और रस से स्पन्दित करना आवश्यक है। मेरा प्राण वे सुन्दर स्वस्थ प्रजाएँ हैं जो सौ वर्ष तक अदीन भाव से जीवित रहती हैं। मेरे प्रजापति रूप को शतायु और प्राणवन्त प्रजाएँ बहुत प्रिय हैं। उनकी विक्रम परक परिचर्या से बहु पुत्र-पौत्रीण गृहपति की तरह मैं तृप्त होता हूँ। जिस अंश में क्रियाशील प्रजाएँ नव निर्माण का कार्य करती हैं उसी को मैं उनकी आयु का अमृत और सत् भाग मानता हूँ, शेष इतिहास का असत् भाग है।

पृथ्वी के साथ सौहार्द भाव का संबंध मेरी जीवनधारा का पोषक

प्राण है। यह भूमि मेरी माता है, और मैं इसका पुत्र हूँ। माता भूमिः पुत्रो अहम् पृथिव्याः) यह भाव जहाँ है वहाँ जीवन का अमृततुल्य दुग्ध सदा विद्यमान रहता है। पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हुए बिना कोई मेरे अमृतत्व का प्रसाद नहीं प्राप्त कर पाता। जब प्रजाओं का बहुमुखी चिन्तन भूमि के साथ बद्ध मूल होता है तब वह वसन्त की तरह नए पल्लवों से लहलहाता है। जिसकी विचारधारा भूमि में प्रतिष्ठित नहीं है वह शुष्क पर्ण की तरह मुरझाकर गिर जाता है। अपन पैरों के नीचे की पृथ्वी के नदी-पर्वत ,वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी आदि के सम्यक् दर्शन से राष्ट्र के नेत्रों में देखने की नई ज्योति उत्पन्न होती है। पृथिवी के भौतिक रूप में प्रजाएँ जितना अधिक रस लेती हैं उनका जीवन उतना ही रस पोषित होता है।

प्रजाओं के जीवन की दीक्षा भी मेरा प्राणभाग है। मेरी दृष्टि में जीव न का कौशल यही है कि उसमें ज्ञान और कर्म की निरन्तर सिद्धि होती रहे।

जहाँ इस प्रकार त्रिविध प्राणों की आराधना से प्रजाएँ राष्ट्र में जागती हैं वहाँ मेरी अनुभूति उनके मन में जागती रहती है। अन्यथा उन्हें ध्यान भी नहीं होता कि मेरा अस्तित्व उनके साथ है या नहीं। विष्णु के तीन चरणोंकी तरह मेरे भी तीन विक्रम हैं। उन तीनों विक्रमों को पूरा करके ही जीवन सफल होता है। भूमि, भूमिपर बसनेवाली प्रजाएँ और प्रजाओं में रहने-वाला ज्ञान—इन तीनों की कल्याण परम्परा ही मानो मेरी तीन ऋतुओं का मंगल विधान है। मेरा समस्त जीवन ऋतुमय है। वसन्त, ग्रीष्म और शरद् इनका पर्याय क्रम इतिहास के चक्र को सतत घुमाता है। प्रत्येक संस्कृति को प्रभात, मध्याह्न संध्याकाल के चक्रका अनुभव करना पड़ता है। शरद् के अनन्तर वसन्त का निश्चित आगमन मेरा सबसे बड़ा देव तुल्य प्रसाद है।

मेरे विक्रमांकित स्वरूप के स्मरण और अभिनन्दन का यही उपयुक्त अवसर है। मेरे अभिनन्दन से प्रजा स्वस्तिमती हो, यह मेरा आशीर्वाद है।

१५—नयी व्यवस्था

जैनेन्द्र कुमार

[जैनेन्द्र कुमार का जन्म १९०५ में कौड़ियागंज, अलीगढ़ में हुआ। पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया। प्रारंभिक शिक्षा जैन गुरुकुल हस्तिनापुर में हुई। गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में जेल गये। लिखने की प्रेरणा वहीं जेल में हुई। पहली कहानी 'खेल' १९२८ में 'विशाल भारत' में छपी। पहला उपन्यास 'परख' हिन्दुस्तानी एकेडेमी से पुरस्कृत हुआ। अब तक पाँच उपन्यास और इतने ही कहानी-संग्रह छप चुके हैं।

जैनेन्द्र की अपनी एक विशिष्ट शैली है। बात को सीधे कहने की अपेक्षा घुमा-फिरा कर कहना विशेष प्रिय है। मानव की भावनाओं को आप मनोविज्ञान की कसौटी पर परखते हैं। आपके मनोवैज्ञानिक चित्रण बहुत सुन्दर हैं। भाषा प्रभावोत्पादक और शैली एकदम नयी है। इधर कहानी और निबन्ध के क्षेत्र से हट कर दार्शनिक चीजें लिखने लगे हैं।]

'नयी व्यवस्था' आपकी कहानी और निबन्ध के बीच की चीज है। इसमें लेखक की कल्पना संसार की जटिल समस्याओं को स्पर्श करती और अपने ढंग से उसका हल भी प्रस्तुत करती है।

'जड़ की बात' और 'जैनेन्द्र के विचार' दो निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के अन्त की ओर आरम्भ होने वाले इस युद्ध ने जगत् की आंखें खोल दीं। जन-संख्या आधी रह गई। स्त्रियों का अनुपात पुरुषों से दुगना बढ़ गया। युद्ध की समाप्ति पर लोक-दक्षों ने

सोचा कि ऐसे नहीं चलेगा। जगत् की कुछ नई व्यवस्था करनी होगी। विश्व अब राष्ट्रों में बंटा नहीं होगा। राष्ट्र यदि मूल इकाई रहते हैं तो मिलना न मिलना उन पर निर्भर रहता है। इस तरह जगत अखंड होने में नहीं आता। अब इस स्थापना से चलना होगा कि विश्व एक है। अतः अब देश नहीं होंगे, विभाग होंगे। सोचा गया कि विभाग चार हों—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम। यही नैसर्गिक है। ये चारों विभाग एक अन्तर्विभागीय संस्था में संयुक्त हों। भूमध्य रेखा के उत्तर में ३३ अंश की देशान्तर रेखा से ऊपर का भाग उत्तर और मकर रेखा से नीचे का भाग दक्षिण ठहराया गया। बीच के अंश में पूर्व-पश्चिम की पहचान के लिए जो अक्षांश रेखा वर्तमान लालसागर के मध्य से जाती है उसको विभाजक रेखा करार दिया गया। अन्तर्विभागीय केन्द्र में तीन सर्वाधिकारी नियंता सदस्य हुए और विभागों के चार अलग-अलग अध्यक्ष नियत हुए।

नीति स्थिर हुई। नक्शे बने और नई व्यवस्था शुरू हुई। चारों विभागीय अध्यक्षों ने तीन केन्द्रीय सदस्यों के साथ मिलकर व्यवस्था सम्बन्धी सब समस्याओं पर विचार किया और यथावश्यक निर्णय किया। अन्त में पूर्व के विभागाध्यक्ष ने कहा, "ईश्वर के बारे में हमारी नीति और स्पष्ट होनी चाहिए। यह संज्ञा किसके लिए है यह तय हो जाना चाहिए। ईश्वर व्यक्ति नहीं, वस्तु नहीं, वर्ग नहीं फिर भी सब कहीं इस संज्ञा का प्रवेश है। इससे सुविधा भी होती है और असुविधा भी होती है। इस विषय में विश्व-व्यवस्था की दृष्टि से हमें एक और स्पष्ट नीति बना लेनी चाहिए!"

बात संगत थी। उस पर काफी विवेचन हुआ। प्रतीत हुआ कि ईश्वर नामक संज्ञा सुव्यवस्था में सहायता तो अवश्य देती है। व्यवस्था का सार है बंटवारा, जिसका अर्थ है श्रेणी। श्रेणी में तर-तमता आ ही जाती है। इस कारण किंचित घट-बढ़पन का भाव आना भी अनिवार्य है। 'ईश्वर' को मदद से इस अनिवार्य विषम का भाव का विष निवारण हो जाता है

और श्रेणी विभाजन में एक औचित्य आ जाता है। ईश्वर न हो तो भाग्याधीन भाव व्यक्ति में से नष्ट हो जाय और सब में परस्पर स्पर्द्धा-बुद्धि जगी रहे। इस तरह व्यक्ति सदा असन्तोष में ही धधकता रहे।

चर्चा में इतिहास की ओर भी दृग्पात हुआ। उस इतिहास पर फैला हुआ दिखाई दिया कि शासन ने सदा देवता की सहायता ली है। वह देवता अधिकांश प्रजा की मान्यता में से ले लिया गया है। विजय या कूटनीति के बल पर राज्य-विस्तार हुआ है तो एकाधिक देवताओं के समुच्चय रूप में नये-नये राज-देवताओं का आविर्भाव हुआ है। क्रांति हुई है तो पुरातन को पदाक्रान्त करके भूल से कोई नया ही देवता गढ़ डाला गया है। इस देवता के मान-पूजा की सरकार ने चिन्ता और व्यवस्था की है। उसके अधिवास का नाम मन्दिर रखा है, जिसका महल से भी अधिक महत्त्व है। एक पूरा विभाग उस देवता की सुरक्षा, सेवा, प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए नियुक्त हुआ है। देशों में, जातियों में अपने देवता को लेकर एकता आई है। जिन्होंने कुछ बदलना चाहा है, यदि समझदार थे तो उन्होंने आरम्भ उस देवता से किया है। नई व्यवस्था यानी नया देवता। एक व्यवस्था यानी एक देवता। सचमुच दुनिया यदि एकहै तो यहां ईमान भी एक होना चाहिए। एक देवता, एक पूजा, एक मन्दिर, एक मुद्रा।

लेकिन दूसरा दृष्टिकोण था कि क्या देवता होना ही चाहिए? देवता सम्प्रदायों में भेद-रक्षा के लिए बने। एक गिरोह ने अपने संगठन के लिए अपना देवता बनाया, पर संगठन दूसरे गिरोह से मोरचा लेने के लिए बनाया। इस तरह देखा जाय तो देवता की वहीं जरूरत है जहां अनेकता हो। दुनिया जब एक है, तब देवता अनावश्यक हैं।

इस भांति बहुत देर तक विवाद रहा औरा निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव नहीं हुआ।

पूर्व के विभागाध्यक्ष ने कहा, "देवता का प्रश्न ईश्वर से भिन्न है।

देवता अनेक हैं, ईश्वर एक है। लड़ने वालों के देवता अलग-अलग होते हैं, पर दोनों एक ईश्वर को मानते हैं। इस तरह लड़ते हुए भी उनके बीच जमीन रहती है, जहां वे सन्धि पर आ सकें।"

इस पर पश्चिमाधिकारी ने कहा—"ठीक यही जमीन है जहां खड़े होकर अपनी लड़ाई को वे धर्म-युद्ध का रूप दे पाते हैं। यह धर्म ही युद्ध को विकराल बनाता है।"

खैर, यह तय हुआ कि तीन व्यक्तियों की एक तत्त्व-समिति बैठायी जाय जो निम्नांकित बिन्दुओं पर अपना मन्तव्य उपस्थित करे।

(१) ईश्वर होना चाहिए कि नहीं ?

(२) यदि हां, तो किस रूप में, किस मात्रा में ?

(३) व्यवस्था और शासन के साथ इस ईश्वर का क्या सम्बन्ध हो ?

(४) ईश्वर केवल मान्यता हो कि संस्था भी हो ?

(५) यदि संस्था हो तो विश्व-व्यवस्था के व्यूह में उसे कहां किस पंक्ति में किस प्रकार हल करके बिठाया जाय ?

समिति को इस शोध के लिए तीन वर्ष का अवकाश मिला।

दुनियाँ के पास अब लड़ाई नहीं थी। इसलिए एक उत्साहप्रद विषय की आवश्यकता थी। शांति में उत्साह नहीं होता। संघर्ष ही उर्वर है। समिति के सदस्यों ने बैठकर आपस में आरम्भिक बातचीत की तो उसमें गर्मी विशेष नहीं आई। गर्मी तत्व में नहीं, राग-द्वेष में है। इसलिए एक लम्बा प्रश्न-पत्र तय्यार किया गया जो तमाम विद्वानों के पास भेजा जाय। और सब अखबारों में भी छपे ताकि गर्मा-गर्मी उपज़े और विचार प्रबलता के साथ किया जा सके।

लड़ाई के बाद थकान थी और अध्यक्षों के पास रचनात्मक के अतिरिक्त शासन-दमन का विशेष काम न था। यह उनके राजकीय दायित्व के लिए

अपर्याप्त था। अब ईश्वर को लेकर सब जगह खासी सरगर्मी दिखाई देने लगी और अध्यक्ष सचेत हो गए।

धीमे-धीमे गर्मी के फलस्वरूप विश्व की अखंडता में दरार हो गई। दक्षिण-पूर्व विभाग का लोक-मत पश्चिमोत्तर विभागों से मिलता नहीं दिखाई देता। क्यों ऐसा होना चाहिए, इसका कारण ऐतिहासिक और भौगोलिक हो तो हो, दूसरा कोई तर्क शुद्ध कारण नहीं है शिक्षा अब एक है, मुद्रा एक है, सरकार एक है। फिर भी यदि परिणाम में अंतर है तो उसे अवैध और अनुचित कहना चाहिए। जो हो, प्रस्तुत स्थिति है कि समानता का तल अतल में धंसक गया है और मतभेद ही उभरता चला आ रहा है।

दो वर्ष बीतते-न-बीतते अंतर्विभागीय केन्द्र के सदस्यों को इस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्र होना पड़ा। वातावरण क्षुब्ध था। किन्तु देखा गया कि अन्तर उनमें भी वैसा ही बना है। एक की मान्यता है कि ईश्वर को सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करके और सब कहीं उसी के नाम पर शासन चलाने के प्रयत्न और आश्वासन से हम विश्व की एकता को क़ायम और मजबूत रख सकेंगे। दूसरे का कहना है कि ईश्वर-तत्व मानव व्यापार में असंगत है। यदि वह फिर भी लाया जाता है तो अहितकर है। असमर्थ ईश्वर का नाम ले तो समझ में आ सकता है। उसकी असमर्थता ही उसे सह्य बनाती है। पर सोच-विचार कर ईश्वर को बीच में लाना तो निश्चय ही अपने बीच एक ऐसे अनिष्ट तत्व का प्रवेश करना है कि जिसको लेकर बुद्धि पूर्वक हम कोई योजना ही नहीं चला सकते।

दोनों ओर दो ऐसे व्यक्ति थे जिनको मानव-जाति की व्यवस्था का पूरा अनुभव था। उनको केवल सिद्धांतवादी ही नहीं कहा जा सकता था। वे व्यवहार और वर्त्तमान के भी पुरुष थे। उन दोनों में गहरा अंतर देखा गया। विवाद से वह अन्तर और भी प्रशस्त दिखाई दे आया। जान पड़ा दोनों दो तटों पर हैं और अपनी जगह से च्युत हो कर कोई एक-दूसरे के

पास आने को तय्यार नहीं हैं तब केन्द्र के तीसरे सदस्य ने कहा कि इस प्रश्न को यहीं बन्द कर देना चाहिए। किन्तु प्रश्न नामक वस्तु बन्द नहीं होती, दबती ही है। और जब प्रश्न स्वयं विवेक के शीर्ष-स्थान पर जा पहुँचा हो तो वह दबे भी तो कहाँ से और किससे ? अतः केन्द्र की बैठक कई दिनों तक चलती रही। अन्त में दो सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिया और तीसरे ने घोषणा की कि केन्द्र भंग हो गया।

अब चारों दिशाओं में चार अध्यक्ष रह। वही शेष थे, वही सब थे, तीन व्यक्तियों की मूल तत्त्व-समिति की वैधानिक स्थिति कुछ न थी। प्रश्न को सुलगा दिया, यह उनका काम काफी था। जो सुलगा था, वह दहक चला। ऐसे समय अध्यक्ष लोक-तन्त्रीय अभ्यास और नीति के कारण परस्पर की व्यक्तिगत मित्रता पर विशेष नहीं अटक सकते थे। पूर्व वर्गपक्ष एक ओर अटल था। वह पक्ष था कि ईश्वर-पूर्वक ही रहा जा सकता है, अन्यथा जीवन वृथा है। ऐसे जीवन का मोह हमें नहीं है। पश्चिम की नास्तिकता प्राण रहते हम नहीं चलने देंगे। इस प्रकार का लोक-मत प्रबलता के साथ,पूर्व के पत्रों में हुंकार मारने लगा।

पश्चिम उधर जागृत था। ईश्वर उसे सह्य हो सकता है; लेकिन शासन का अंग और साधन हो कर ही। यहीं तक उसकी सार्थकता है। आगे उसे बढ़ने दिया जाय, यह तो अब तक हुई उन्नति से हाथ धो लेना है। वे नहीं जानते जो ईश्वर को मानते हैं। विकास ऐसों के लिए नहीं ठहरेगा। और यदि यही होना है तो भविष्य की ओर दृष्टि रखकर हम एक और रक्त-स्नान के लिए तय्यार हैं। मानव-मेधा के स्वर्णोदय में हमारी निष्ठा है। अन्धकार के युग को अब हम किसी कोने में भी बचा नहीं रहने देंगे। सभ्यता का दीप-स्तम्भ हमारे हाथ है और हम उसके आलोक को लेकर पूर्व की जड़ता और जाड्यता को ध्वस्त कर के ही छोड़ेंगे।

ऐसे ही समय वक्तव्यों और विज्ञप्तियों से ज्ञात हुआ कि दिग्विभागों

के अध्यक्ष यद्यपि जगत् को अखंड मानते हैं लेकिन अपने खंड की परम्परा और संस्कृति की रक्षा को भी परम कर्त्तव्य मानते हैं। यह भी विदित हुआ कि (पूर्व की दृष्टि में) पूर्व की परम्परा एक और अपूर्व है, और (पश्चिम की दृष्टि में) पश्चिम की परम्परा उतनी ही निजी और अद्वितीय है।

इस अवसर पर दक्षिण भाग के एक पत्र ने याद दिलाई कि अमुक दिन तो लाल सागर की अक्षांश रेखा मानकर पूर्व-पश्चिम की हमने ही सृष्टि की थी। तब क्या स्पष्ट न हो गया था कि पूर्व-पश्चिम नाम की कोई वस्तु नहीं है। फिर यह झगड़ा क्या है ? क्या पिछले युद्ध के बाद हम सब ने नहीं पहचाना था कि देशों की सीमा-रेखाएँ झूठी हैं और उनकी संस्कृतियों की निजता भी तब तक दंभ है जब तक उनको अपनी विशिष्ट संस्कृति का भान जगत् की निखिलता में आत्मसात् होने की ही प्रेरणा उन्हें नहीं देता। ये चार विभाग उस दिन क्या सब प्रकार की अहंताओं को मिटा कर व्यवस्था मात्र की सुविधा के लिए ही नहीं बनाये गए थे ? क्या स्वयं विभागाध्यक्षों को उस घोषणा-पत्र की याद दिलानी होगी जो उन्हीं के हस्ताक्षरों से प्रचारित हुआ था ? उसकी स्याही भी नहीं सूखी है और यह हम क्या देखते हैं ?

इस तरह की भावना अन्य तीनों विभागों के छुट-पुट पत्रों में भी प्रकट होती देखी गई। पर यह लिखने वाले आदर्शवादी थे। ये विचारक थे, दार्शनिक थे, लेखक थे। ये यथार्थ से दूर कल्पना में रहने वाले लोग थे। इनकी सुनना स्वप्न पर उड़ना था।

व्यवहार-दलों ने सभा-मंच से कहा कि तीन वर्ष से क्या स्थिति नहीं बदली है ? व्यवहार क्षण-क्षण बदलती स्थिति को ध्यान में रखता है। रेखा कहाँ है ? कौन कहता है कि दिग्-विभाजन काल्पनिक है ? उसका मूल सहस्राब्दियों गहरा और ठोस है। और वे भी भ्रम में हैं जो मानते

हैं कि किन्हीं अक्षांश अथवा देशान्तर-रेखाओं को विभाजन-रेखा बनाना किसी कल्पित सिद्धांत पर हुआ था। उसके पीछे वैज्ञानिक और ठोस शास्त्रीय कारण थे। पूर्व और पश्चिम दो हैं और रहेंगे। लोक-दक्षों ने कहा कि अखण्डता भ्रम है और खण्डन शाश्वत है। उससे डरना नहीं होगा।

इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप से चलकर प्रश्न पूर्व और पश्चिम की अर्थात अपनी-अपनी, विशिष्टता का हो रहा। तब इतिहासों में से अतीत गौरव का पुनराविष्कार हुआ। अपने-अपने विजेता, नेता और पराक्रमी पुरुष काल के गर्भ से निकल कर चेतावनी देते हुए जाग खड़े हुए। पूर्व की महिमा का उदय हुआ और उसके उन्नत भविष्य के चित्रों की अवतारणा हुई। इसी प्रकार पश्चिम को भावी निर्माण के प्रति अपने दायित्व के सम्बन्ध में सचेत होना पड़ा। उसने पहचाना कि वही तो मूर्धन्य है, उसी के हाथ में तो विज्ञान का विद्युत्-प्रकाश है, जो आगे के मार्ग को आलोकित करेगा। पूर्व !—वह सदा से जड़ता का गढ़ रहा है। इस बार आगे बढ़ कर उसके कोने-कोने में हम अपना प्रकाश लेकर पहुंचेंगे। भविष्य का सन्देश ले कर हमें आगे बढ़ना होगा। हम मानवता के अग्रदूत हैं।

सारांश, तय्यारियां हो रही हैं और नई व्यवस्था तीन वर्ष में दूसरी नई के लिए जगह करती दीखती है!

१६—हिन्दी का भक्ति साहित्य

हजारी प्रसाद द्विवेदी

[श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी बिहार के रहने वाले हैं। हिन्दी में आपके जैसा बहुश्रुत विद्वान बिरला ही होगा। चिन्तनशीलता, तथ्यान्वेषण और आलोचनात्मक बुद्धि के लिए हिन्दी जगत् में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। काफी स्वतन्त्र विचार रखते हैं। 'कबीर' नामक ग्रन्थ में आपने सन्त कवियों और नाथ सम्प्रदाय की काफी गवेषणा की है। आपकी दूसरी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' अपने ढंग की एक पुस्तक है। उक्त पुस्तक में हिन्दी साहित्य की विशद रूपरेखा और सभी परम्पराओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'नाथ सम्प्रदाय' नामक 'थीसिस' पर आपको डाक्टरेट भी मिल चुकी है। आपका 'बाण भट्ट की आत्मकथा' बड़ा ही रोचक और ऐतिहासिक उपन्यास है।

हजारी प्रसाद जी की शैली संस्कृत साहित्य के माधुर्य और वैचित्र्य से प्रभावित है, फिर भी वह दुरूह और दुर्बोध नहीं है। आधुनिक प्रचलित शब्दों का बहिष्कार करने के पक्ष में आप नहीं रहते। समालोचना के क्षेत्र में आपकी सहृदयता और निष्पक्षता से सभी प्रभावित हैं।

बरसोंशान्ति निकेतन में हिन्दी के अध्यापक रहने के पश्चात् इन दिनों काशी विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

'अशोक के फूल' और 'विचार और वितर्क' नामक आपके दो निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य की भूमिका',

'बाण भट्ट की आत्म कथा', 'नाथ सम्प्रदाय', 'कबीर' आदि अन्य रचनाएँ काफी प्रशंसित और प्रसिद्ध हैं।]

जिस समय हिन्दी का साहित्य बनना शुरू हुआ था वह समय एक युग-संधि का काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियां और उपजातियां बनती जा रही थीं तथापि वर्णाश्रम—व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेदभाव को भूल जाता था। वह राजा से रंक और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सब को धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो "बिजली की चमक के समान" इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपों में अपने आपको प्रकाशित किया। यही वे धारायें हैं जिन्हें निर्गुण धारा और सगुण धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्म मतों को केन्द्र बना कर ही अपने आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींच कर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार

की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का, एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का, एक ने श्रद्धा को पथप्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था। केवल बाह्याचार दोनों में से किसी का सम्मत नहीं था। आन्तरिक प्रेम निवेदन दोनों को इष्ट था, अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्मसमर्पण दोनों के साधन थे। भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों का ही अनुभव था कि भगवान् लीला के लिए ही इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान् को अलग देखने में रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबन्ध रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था—अर्थात् सब कुछ को मान कर, सब के प्रति आदर का भाव बनाये रख कर, अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त लोग भी सम्पूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुंठ चित से अपना नेता मान कर उनके वाक्यों की संगति प्रेम पक्ष में लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों के प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी। नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी और शास्त्र ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और

अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी । सब को उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चल कर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण-ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर अपने लम्बे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के सम्बन्ध में अवज्ञा या अवहेलना का भाव नहीं दिखाया । उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की संगति लगाई। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है, पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में है । एक ने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया दूसरे ने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पंडित्य ही इस युग के साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग कर के नहीं देखा जा सकता । अलंकार शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य हैं । विशेषतायें बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए ।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकार शास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं । जिन अलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता सम्बन्धी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है । परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्-विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें जगत के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती

है, केवल जड़जगत से मानसिक सम्बन्ध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़ता के सम्बन्ध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत के साथ जो निर्वेदात्मक सम्बन्ध है उसे प्रधानता न दे कर भगवद्-विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती है। जो लोग शान्त रस का स्थायोभाव निर्वेद को न कह कर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंगमें बारम्बार "जड़ जगत्" शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत में शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिए चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से सम्बन्ध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्तिशास्त्रियों का दावा है कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिए भगवत-प्रेम न तो इन्द्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य और न बुद्धि साध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन-बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जा कर विश्रमित होता है। भागवत ने (११.२.३६) इसीलिए कहा है।

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।"

पर निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिए शास्त्र बहुत कम सहायक है। अब तक इनके अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक ठीक

नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सब से बड़ा साधन लोक गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं, और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं भिन्न भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीति नीति पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्य वश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति साहित्य के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सब से पहले आकृष्ट करती है--विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक के लिए पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिंड , एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर, एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर, एक योगी था दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घर-फूंक मस्ती वाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। नाथमार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तंत्रमत की अनेक साधनाएं और चिन्ताएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य में आने वाले सहज, शून्य, निरंजन, वाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी "कबीर" नामकी पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि

कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बारबार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देख कर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहजे में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ख—सम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्थाकहा करते हैं। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूतगीता में इस गगनोपमा वस्था का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते। जो माया प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो ज्ञान रूपी अमृत पान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभा स्वर तुल्य भूता' किया है। इस साहित्य में वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नों से साधित समाधि का बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शारीर प्रयत्नों से साधी जाती है वह ससीम है और शरीर के साथ ही साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनंद ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक कान रूँधने की जरूरत ही नहीं होती; कंथा और मुद्रा-धारण की आवश्यकता ही नहीं होती। वह 'सहज-समाधि का

अधिकारी होता है—सहज-समाधि, जिसमें 'कहूँ सो नाम, सुनूं सो सुमरन, जो कछु करूँ सो पूजा'' ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिला कर न देखने के कारण पंडित लोग 'खसम' शब्द के इस महान अर्थ को भूलते आए हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ पर विचार किया है और इसीलिए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान में रखते हैं, मेरा विश्वास है कि नैपाल और हिमालय की तराइयों में जहाँ जहाँ योग मार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक, कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है।

परन्तु संयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ में आ गई हैं उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलम्ब नहीं माना जा सकता। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ता धारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है वैसा ही हमेशा नहीं था। नये नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गये हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सब से निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वहीं नहीं रहीं, और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन समुद्र का सामाजिक जीवन बहुत स्थितशील है फिर भी एसी धारा इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है। एक ऐसा भी जमाना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक भावना भी थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती

थीं—कोई भी जाति तब हिन्दू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहने वालों को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुत सी अल्पसंख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुई या मुसलमान। इस युग की यह एक विशेष घटना है जब प्रत्येक मानव समूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेने को वाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से ले कर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचन्द्राकृति भू-भाग में जुलाहों को देख कर रिजली साहब ने अपनी पुस्तक 'पीपुल्स आफ इंडिया' (पृ० १२६) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूह रूप में मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुत: ही वे 'ना-हिन्दू-ना-मुसलमान थे। सहज पंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहल वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरोंके मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप जरूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सम्प्रदाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। यद्यपि नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-विंदु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल

जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दशा में गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त-सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राण रस से आप्लावित कर सके थे। पर इसी को सब कुछ मान कर अगर हम चुप बैठ जायँ तो इसे भी ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे। आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन ने 'ओझा अभिनन्दन-ग्रन्थमाला' में एक लेख द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ संबद्ध है।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह काल-स्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधारा की ओर इशारा भर कर देते हैं। वे ही मुख्य नहीं है; मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर आत्मप्रकाश कर रही है। साहित्य के इतिहास से हम अपने आपको ही पढ़ते हैं, वही हमारे आनन्द का कारण होता है। यह प्राणधारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं से विच्छिन्न और स्वतंत्र नहीं है। इसी रूप में हमें भक्ति साहित्य को भी देखना है।

१७—कला में जीवन की अभिव्यक्ति

पं० शान्ति प्रिय द्विवेदी

[पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी साहित्यिक विषयों पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखने वालों में ऊँचा स्थान रखते हैं। आपके निबन्धों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'हमारे साहित्य निर्माता'; 'कवि और काव्य'; 'संचारिणी', 'सामयिकी', तथा 'युग और साहित्य' प्रमुख हैं। 'युग और साहित्य' की रचना में द्विवेदी जी आजकल के प्रगतिवादी के रूप में उपस्थित हुए हैं, परन्तु 'सामयिकी' प्रधान रूप से गांधीवाद की व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ है। गांधीवाद सांस्कृतिक प्रयत्नों को लेकर चला और उन्हीं को साधन बनाकर इसने हमारी दैनिक समस्याओं के सुलझाव पर भी प्रकाश डाला है। द्विवेदी जी विश्व के स्थायी कल्याण के लिए गांधीवाद में ही विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में गांधीवाद आत्मवाद है, जिसकी भित्ति पर ही सुख एवं शान्ति का प्रसाद खड़ा किया जा सकता है।

द्विवेदी जी की शैली में काव्योचित सरसता रहती है। उनके निबन्ध कहीं-कहीं गद्य-काव्य के माधुर्य का-सा स्वाद देने लगते हैं। गद्य लिखते हुए भी वे पद-मैत्री एवं सरस वाक्य-विन्यास पद्धति का विशेष ध्यान रखते हैं। यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों को वे प्रायः प्रयोग में लाते हैं, फिर भी अंग्रेजी के प्रचलित और कहीं-कहीं अप्रचलित शब्द भी उनकी रचना में बाहुल्य से प्रयुक्त हुए हैं। 'इम्प्रैशनिस्ट', 'रोमेन्टिक', 'थीम', 'माडर्न', 'फिल्टर' आदि ऐसे ही शब्द हैं। कहीं कहीं तो आपने क्रिया भी अंग्रेजी की रख दी है। अंग्रेजी का इतना आधिक्य अनुचित सा लगता है, परन्तु

कहीं-कहीं पर वह वर्णन-शैली का शृंगार भी बन जाता है। नवीन अर्थ-प्रकाशन के लिए यह आवश्यक भी है।

द्विवेदी जी ने कहीं-कहीं अत्यंत विलक्षण परन्तु व्यंजनात्मक शब्दों का प्रयोग किया है; जैसे 'यह युग एकाक्ष नहीं त्रिनयन है।' वस्तु-जगत को रूप और साधना-जगत को अरूप कहना भी इसी प्रकार की शैली का परिचायक है।

द्विवेदी जी भावुक विश्लेषक एवं संस्कृत आलोचक हैं। हिन्दी के निबन्धकारों में इनका निस्संदेह एक ऊँचा स्थान है।]

(१)

समाज की तरह साहित्य में भी लोकोक्तियाँ बनती जा रही हैं, जिनमें से यह उक्ति प्रायः सुनाई पड़ती है—'कला कला के लिए।' इस उक्ति के आधार पर हमारे यहाँ यह धारणा कुछ कुछ फैल चली है कि दिन रात के इस हँसते-रोते विश्व से पृथक् कला कोई भिन्न वस्तु है, जिसका अस्तित्व केवल लिखने-पढ़ने के संसार तक ही सीमित है, प्रत्यक्ष जीवन की एकतारता के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। और इसलिए साहित्य के जड़वत् मूक-पृष्ठों पर चाहे जो लिख दिया जाय, उस लिखित अंश को हिला-डुला कर जीवन उससे यह प्रश्न नहीं कर सकता कि तुम्हारा हमारे अभ्युदय से क्या सम्बन्ध है, तुम मेरे उपवन में फूल लगा कर रहे हो या बबूल? आग बरसा रहे हो या बरसात की झड़ी? तुम विध्वंसक हो या स्रष्टा?

'कला कला के लिए' का कोई भ्रान्त लेखक कदाचित् कहेगा—जीवन को कला से यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं। वह तो केवल 'कला' है जीवन का सगोत्रीय नहीं कि उसके कृत्यों के लिए पंचायत की जाय अथवा उसके कारनामों का लेखा-जोखा लिया जाय। तब क्या कला जीवन से जाति-बहिष्कृत है? परन्तु बात तो ऐसी नहीं जान पड़ती। जिस

प्रकार जीवन मानव-शरीर धारण कर समाज के सम्मुख उपस्थित होता है, उसी प्रकार कला, ग्रन्थ का शरीर धारण कर जीवन के सम्मुख उपस्थित होती है। किसी भी कलात्मक ग्रन्थ को शीशेदार अलमारी में बन्द कर या टेबुल पर रख कर हम नुमाइशी वस्तुओं की तरह केवल देखते भर नहीं, केवल उसकी छपाई-सफाई या जिल्दसाजी को देख कर आँखों की हविस भर ही नहीं मिटाते; बल्कि, उसे हम पढ़ते हैं, कानों से सुनते हैं, मस्तिष्क से सोचते हैं और हृदय से हृदयंगम करते हैं, इस प्रकार जब किसी ग्रन्थ का सम्बन्ध हमारे आँख, कान, मन और वाणी से जुड़ जाता है, तब उसकी कला भला हमारे जीवन से पृथक् कैसे हो सकती है। थोड़ी देर के लिए यदि हम उसकी कला को नुमाइशी वस्तु के रूपमें ही श्लाध्य समझ लें तो भी उसकी नुमाइश में, उसके प्रदर्शन में, जो एक रस मिलता है, वह क्यों कर? यदि एक शव के सम्मुख––जिसकी संपूर्ण इन्द्रियाँ अपने स्थान पर यथावत साकार हैं––किसी कलात्मक ग्रन्थ को उपस्थित कर दें, तब उसे क्या उस रस की उपलब्धि होगी? नहीं, क्योंकि यह चेतना जो अनुभूतिशील है, वह है वहाँ? चेतना के कारण ही तो जीवन जीवन बना है और जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदय-संवेद्य बनी है? तब कला जीवन से विच्छिन्न कैसे हो सकती है? यों निष्प्रभ शरीर से चेतना जिस प्रकार लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार कला नीरस और निष्प्राण होकर भले ही जीवन से पृथक् हो जाय।

(२)

तो क्या कला कला के लिए का कथन निरर्थक है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यह कथन तो अपने भीतर एक एक निगूढ़ पहेली छिपाये हुए है। उस पहेली की तह तक न पहुँच सकने के कारण ही कला के संबंध में गलत फहमियाँ फैल रही हैं। और वह बेचारी अबलाओं की तरह दुष्ट-दृष्टियों द्वारा कदर्थित हो रही है।

'कला कला के लिए' की आवाज उस समय उठनी चाहिए जब समाज की तरह साहित्य भी रूढ़िग्रस्त होकर विकास-हीन और प्रभाव रहित हो जाय। देश-काल के अनुसार नियोजित किसी विशेष विधानको ही जब समाज सब कुछ मानकर लकीर का फकीर हो जाता है, तब उसकी प्रगति भी अवरुद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। यही हाल साहित्य का भी है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार समाज के रंग-मंच पर युग-प्रवर्तक महाप्राण पुरुष खड़े होकर नूतन पथ प्रदर्शन करते हैं, उसी प्रकार साहित्य की रंग-भूमि पर आकर हमारे अमर कलाकार कला को भी नूतन गति-विधि दे जाते हैं। साहित्य के भीतर से जीवन को किस प्रकार जगाना चाहिए, इसके लिए वे मानवी मनोविज्ञान के अनुसार कला के नूतन नियमों और नूतन रूप-रंगों की सृष्टि करते हैं, और उनके द्वारा जीवन की उस चिरन्तन चेतना को जाग्रत करते हैं, जो शरीर (बाह्य-रूप रंग) के परिवर्तन-शील आवरण में आत्मा की भांति है।

ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि मानवी मनोविज्ञान के ही युग-प्रवर्तक कलाकार समय-समय पर कला को नूतन रूप-रंग प्रदान करते हैं। समय के प्रवाह के साथ साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की सरलता नष्ट होती जाती है; ज्यों-ज्यों उसमें विषमताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों उसका मनोविज्ञान भी जटिल होता जाता है। इस जटिलता के कारण ही कला को मनुष्य के सम्मुख नाना प्रकार से उपस्थित करना पड़ता है। किसी सीधे-सादे युग में मनुष्य से सिर्फ यही कह देना पर्याप्त रहा होगा कि सच बोलो और मनुष्य ने सच को अपना लिया। परन्तु मनुष्य सत्यवादी होकर अप्रियबादी भी हो गया, तब उसे कहना पड़ा—'अप्रिय सत्य मत बोलो।' मनुष्य ने इस पाठ को भी ग्रहण कर लिया। परन्तु कि सब युग का, शिशु की तरह सुबोध आज्ञाकारी मानव-समुदाय चिरसहज नहीं रह सका, उसमें जीवन की वक्रता भी आ गई। तब साहित्यकारों को उससे वेदान्त के सूत्र रूप में ही नहीं, बल्कि विशद

कथा-रूप में भी आत्मीयता जोड़ने की आवश्यकता जान पड़ी। परन्तु मनुष्य की चेतना कानों ही में नहीं, आँखों में भी समाई हुई है। अतएव मनुष्य सदैव से जो सुनता आया है, उसका आँखों द्वारा भी समाधान चाहने लगा। उसकी इस इच्छा की पूर्ति नाटकों द्वारा हुई। इस प्रकार वाणी ने समाज के भीतर साहित्य द्वारा क्रमशः विविध प्रवेश किया। आज काव्य, कथा, उपन्यास, नाटक इत्यादि विविध उपहारों को लेकर साहित्य मानव-समाज के साथ अपनापन बढ़ा रहा है। यदि आज कोई यह कहे कि "तुम आप्त-सूत्रों में ही बातचीत करो, वाणी का इतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं", तो जिस प्रकार यह आदेश निरर्थक हो सकता है, उसी प्रकार यह परामर्श भी अनावश्यक होगा कि किसी समय में साहित्य के लिए जो अमुक अमुक नियम थे, आज भी उन्हीं नियमों पर चलो। अथवा कोई छायावाद की कविताओं के लिए ब्रजभाषा के कवित्त, सवैयों या पुराने लक्षण ग्रन्थों का नियम लागू करें और कहें कि उसके बिना कविता हो ही नहीं सकती जिस प्रकार यह बात हास्यास्पद हो सकती है, उसी प्रकार किसी युग-विशेष के कला-संबंधी नियमों को अपना कर साहित्य की सृष्टि करने का आदेश देना भी निरर्थक हो सकता है। कला के पूर्व परिचित विधान जिस युग के साहित्य में प्रचलित हुए थे, उस युग के मनोविज्ञान के अनुसार वे यथेष्ट थे, किन्तु आज के विधान आज के मनोविज्ञान के अनुसार प्रभावशाली होने चाहिए। इस प्रकार 'कला कला के लिए' का समझदार लेखक कह सकता है कि कला स्वावलंबिनी है, किसी युग विशेष की रूढ़ियों पर ही आश्रित नहीं। यदि साहित्यिक रूढ़ियों का शासन कला पर जबरन लागू किया जायगा तो स्वतन्त्रचेता कलाकार को कहना ही पड़ेगा—'कला कला के लिए ही है, रूढ़ियों के लिए नहीं'। कला अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखकर ही अपना विकास कर सकती है। उसमें नित्य नूतन कुशलता का माद्दा है, इसलिए वह 'कला' है, चाहे वह ललित कला हो (जिसमें हमें मानसिक रस मिलता है), चाहे वह उपयोगी

कला हो (जिसमें हमें व्यावहारिक लाभ होता है)। इस प्रकार कला प्रत्येक रूप में जीवन से संबद्ध है।

(३)

कला लक्ष्य नहीं, लक्षण है; साध्य नहीं, साधन है; अभिप्रेत नहीं, अभिव्यक्ति है। लक्ष्य या अभिप्रेत तो जीवन है, जिसे मानव समाज अनेक प्रकार से पाने का प्रयत्न करता है। साहित्य भी उसमें से एक प्रकार है। यह प्रकार अपकारपूर्ण भी हो सकता है, अतएव इसे मंगल और मनोरम बनाने के लिए ही कला को साधन बनाना पड़ा। साहित्य में कला का अर्थ है—मनोहरा। जीवन में जो कुछ सत्य है शिव है, कला उसे ही सुन्दर (मनोहर) बनाकर साहित्य द्वारा संसार के सम्मुख उपस्थित करती है। कला साहित्य का बाह्य रूप है, जीवन उसका अंतः स्वरूप। कला अभिव्यक्ति है। जीवन अभिव्यक्त। सुन्दर शरीर जिस प्रकार अन्तश्चेतन का नयनाभिराम प्रकाशन करता ह उसी प्रकार कला साहित्य की जीव मयी अन्तरात्मा की मनोरम अभिव्यक्ति करती है। परन्तु 'विष रस भरा कनक घट जैसे' के अनुसार जिस प्रकार सुन्दर शरीर में विषाक्त हृदय का होना संभव है, उसी प्रकार मनोहर कला के द्वारा जीवन का दूषित किया विकृत रस भी उपस्थित हो जाना साहित्य में असंभव नहीं है और प्रायः इसी कोटि के कलाकार अपने बचाव के लिए कह उठते हैं—'कला कला के लिए।' अर्थात् कला ने यदि अपने कलित रूप को व्यक्त कर दिया है तो उसका अस्तित्व सार्थक है, उसे उसी के लिए देखना चाहिए। यह विचार ठीक ऐसा ही जान पड़ता है, जैसे यह कहा जाय—'सुन्दरता सुन्दरता के लिए।' निःसंदेह सुन्दरता, सुन्दरता का आदर्श हो सकती है; किन्तु वह सुन्दरता, वह कला, शोभाशालिनी 'विष कन्या' की भाँति प्राणघातक भी हो सकती है। ऐसी कला साहित्य के लिए एक अभिशाप है। अतएव कला की सार्थकता केवल 'सुन्दरता' में नहीं है, बल्कि उसके मंगलप्राण होने में है।

निदान, हम तो कला कला के लिए संकेत इसी अभिप्राय में ग्रहण कर सकते हैं कि कला रूढ़ि-रहित हो; उसे नाना परिवर्तनों-द्वारा कल्याण मयी चेतना को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो। यह स्वतन्त्रता कला के लिए ही नहीं, जीवन के लिए भी वांछित है। किन्तु स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता ही रहे वह स्वेच्छाचारिता न बन जाय। स्वेच्छाचारिता भी उतनी ही अशोभन है, जितनी कि परतन्त्रता।

(४)

जब हम स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन को गतिशील करते हैं, तब मनुष्यता के धरातल पर 'जीवन' एक सरिता के रूप में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है। सरिता का जीवन स्वतन्त्र है, इसलिए वह प्रगतिशील है। यदि हम उसे परतन्त्र कर दें तो वह 'जीवन' एक सरोवर के रूप में संकीर्ण और दूषित हो जायगा। यदि इस परतन्त्रता की प्रतिक्रिया में जीवन स्वेच्छाचारिता के लिए उद्बुद्ध हो जाय तो? 'चूल्हे से निकले तो कढ़ाई में गिरे' वाली बात हो जायगी। स्वेच्छाचारिता से जीवन की नदी में 'बाढ़' आ सकती है, जिससे अपना जीवन तो पंकिल हो ही जायगा, साथ ही समाज भी तबाह हो जायगा। यह ठीक है कि बाढ़ भी 'जीवन' का एक रूप है, किन्तु क्षणिक रूप। बाढ़ द्वारा यदि नदी समुद्र बनजाना चाहे तो वह जीवन का माधुर्य खो देगी—

बह जाता बहने का सुख,
लहरों का कलरव नर्तन।
बढ़ने की अति इच्छा में,
आता जीवन से जीवन।'

अपने अपने व्यक्तित्व के अनुसार प्रत्येक की एक मर्यादा है। समुद्र भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। जीवन का शाश्वत रूप बढ़ी हुई नदी में नहीं, बल्कि स्वाभाविक गति से बहती हुई सरिता में है। सरिता स्वतन्त्र

है, वह किसी बन्धन से बाँधी नहीं जा सकती। परन्तु जो स्वतन्त्रता को अपनाता है, वह दूसरों के बलात् बन्धन से तो नहीं बँधता, परन्तु आत्म मर्यादा के लिए वह स्वयं ही प्रसन्नता-पूर्वक एक मुक्त-बन्धन मनोनीत कर लेता है। सरिता का सीमित जीवन अपने दोनों तटों में निबन्ध है, परन्तु उसकी वही सीमित निबन्धता उसका 'मुक्त-बन्धन' भी है। इसलिए सरिता की कवि आत्मा कह सकती है—

वन्दिनी बनकर हुई मैं,
बन्धनों की स्वामिनी-सी।'

जीवन की तरह कला में भी इसी प्रकार मर्यादा का आत्मस्वीकृत बन्धन होना चाहिए, तभी वह स्वतन्त्र जीवन की स्वतन्त्र कला हो सकतीहै।

सरिता का आत्ममर्यादाशील जीवन ही हमारा परिपूर्ण आदर्श है—

आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता।
जल-जल है, लहर-लहर रे,
गति-गति, सृति-सृति चिरभरिता।'

उस आत्मामयी सरिता में सजलता भी है, ऋतु-कुंचित पथों की वक्रता भी है, इसलिए उसमें गति है, उसमें निर्मलता भी है और लहरों की रसिकता भी। परन्तु सब कुछ मर्य्यादित है। कथा-साहित्य में कला-द्वारा जीवन की ऐसी ही लौकिक अभिव्यक्ति चाहिए। जीवन की यह अभिव्यक्ति क्या यथार्थ' नहीं है?

(५)

साहित्य में यथार्थवाद के नाम पर अंधेर हुआ है। क्या लज्जा-रहित वास्तविकता को ही यथार्थता कह सकते हैं? तब ऐसी वास्तविकता में कला की क्या खूबी है? कला तो वास्तविकता को संभालती-संवारती

है, इसलिए वह कला है। कला का अस्तित्व ही आदर्श का मंगल सूचक है।

भगवान् ने अपने अनेक अवतारों में से एक अवतार कलाकार का भी लिया था। मानव-जीवन के सबसे बड़े कलाकार कृष्ण हैं। वे 'नटवर' हैं, 'मुरलीधर' हैं, उनके स्वरूप में कला मूर्तिमान है। उस कलाकार का कौशल तो देखिए। भरी सभा में जब दुर्योधन, कला की पांचाली को विवस्त्र कर देना चाहता है, तब न जाने किस अज्ञात कक्ष से कलाकार कृष्ण, पंचाली के लिए अंचल-पर अंचल बढ़ाकर अनन्तदुकूलावसुन्धरा की भाँति उसे शोभान्वित कर देता है।

सुन्दरता यदि कला है, परिच्छद है, तो यथार्थ उसका शरीर है और आदर्श उसकी मंगल आत्मा। शरीर अपनी स्थूल यथार्थता के कारण प्रशस्त नहीं है, वह महान् है, अपनी आत्मा के कारण। इस दृष्टि से यदि हम देख सकें तो विशाल शरीर वाले कितने ही नर-पशुओं की अपेक्षा सूक्ष्म कलेवरा चींटी में अधिक मंगल चेतना मिल सकती।

जब सूक्ष्मतम ज्योतिर्मयी आत्मा शरीर का इतना बड़ा आवरण अपनाये हुए है (उसे भी नग्न रूप में उपस्थित होने में लज्जा मालूम पड़ती है), तब उस शरीर (यथार्थ) की भी मर्यादा का ध्यान रखना ही पड़ेगा। वह राज-महिषी जिस पालकी (शरीर) में प्रवास कर रही है, वह पालकी भी अनावृत्त कैसे रह जाय! आत्मा सम्मान की वस्तु रहे, वह कौतुक या तमाशे की चीज न बने; वह अधिकारी द्वारा समझने और मनन की वस्तु हो, इसलिए वह आवरण-पर-आवरण ग्रहण कर सकती है।

जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है, उसी प्रकार यथार्थ आदर्श का माध्यम। यथार्थ आदर्श को किस प्रकार समाज के सामने उपस्थित करे, इसे उचित रूप से हृदयंगम करने में ही कलाकार की विशेषता है। घोर-से-घोर कलुषित व्यक्ति भी, जब अपना फोटो खिंचवाने जाता है, तब वह अपने को इस 'पोज' में साकार करना चाहता है कि लोक-दृष्टि

को सुदर्शन जान पड़े। फिर साहित्य के चित्रों में विकृत की लालसा क्यों ? साहित्य में व्यक्ति और समाज के चित्रों को उपस्थित करते समय कलाकार को फोटोग्राफर से अधिक कला-कुशलता दिखानी पड़ती है। यथार्थ को वह इस 'तर्ज' से उपस्थित करता है कि वास्तविकता तो प्रकट हो ही जाती है, साथ ही जो अलक्ष्य (आदर्श) है, वह भी लक्ष्य में आ जाता है। किसी फोटो में चिपटी नाक को देखकर ,बिना फोटोग्राफर के कहे भी स्वयमेव-शुक-नासिका का आदर्श सामने आ जाता है। यथार्थ मनोवैज्ञानिक निरीक्षकों के लिए एक सांकेतिक आधार है। यथार्थ की अभिव्यक्ति का अच्छा 'तर्ज' कला का आदर्श है, जीवन की अभिव्यक्ति का अच्छा ढंग यथार्थ का आदर्श है।

(६)

कलाकार सब जगह बोलता नहीं, तो भी, उसके चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता से अप्रत्यक्ष वास्तविकता (अभी प्सित आदर्श) का बोध हो जाता है। आधुनिकतम कलाकार स्वयं नहीं बोलता, वह संकेत से ही अधिक काम लेता है। परन्तु जो लोग कथा-साहित्य को कला की दृष्टि से नहीं वल्कि धर्म और नीति की दृष्टिसे ग्रहण करना चाहते हैं, उनके लिए पौराणिक कहानियों में उपदेश मूलक आदर्श भी है। समाज का यह धर्म-पीड़ित वर्ग ऐसा है, जो संकेत की भाषा नहीं समझ सकता। वह रूढ़िग्रस्त मूढ़ है। वह सुझाने से नहीं, बल्कि समझाने से ही समझता है। हमारे अमर कलाकार स्व० प्रेमचन्द जी ने इस वर्ग के पाठकों की साहित्यिक रुचि को उन्नत करने में बहुत हाथ बँटाया था; केवल नैतिकता के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक और चेतना के रूप में भी।

(७)

सर्वश्री रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द और शरदचन्द्र हमारे वे स्वनामधन्य

कलाकार थे, जिन्होंने आधुनिक विश्व साहित्य में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। प्रेमचन्द और शरदचन्द्र आदर्शवादी कलाकार थे। श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर इनके बजाय एक भिन्न प्रकार के कलाकार थे। उनकी सभी कथा-कृतियों को यथार्थवाद और आदर्श के मापदण्ड से मापना अवांछित प्रयत्न करना होगा। उनकी कला निस्संदेह कला के लिए भी है। वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आदर्शों के लिए ही नहीं, अपितु केवल मानसिक रस-संचारण के लिए भी है। वह रस निर्विष है, इसीलिए, 'विष-कन्या' के रूप रस की तरह घातक नहीं, स्वास्थ्यदायक है। इस प्रकार की कृतियों में आदर्श तो नहीं ढूँढ़ा जा सकता, किन्तु यथार्थ कवि का आदर्श (भाव) है, जिसमें जीवन के ऊर्ध्व वातावरण का सत्य रहता है।

हाँ, तो, प्रेमचन्द और शरदचन्द्र आदर्शवादी कलाकार थे। यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी आदर्श वादिता के लिए विश्रुत थे, शरदचन्द्र अपनी यथार्थवादिता के लिए; परन्तु प्रेमचन्द अपनी सभी कृतियों में आदर्शवादी नहीं थे, इसके विपरीत शरदचन्द्र अपनी सभी कहानियों और उपन्यासों में एक से आदर्शवादी थे। प्रेमचन्द जी की अनेक कहानियों में तो हम 'कला कला के लिए' की ही बात पा सकते हैं। उनकी सर्वांग सुन्दर कहानी "शतरंज के खिलाड़ी" को ही लीजिए, इसमें किस आदर्श का उपदेश है? वह तो केवल एक मानसिक रस प्रदान करती है, जिससे हृदय तृप्त होता है। प्रेमचन्द्र जी मुख्यतः अपने उपन्यासों में ही आदर्शवादी थे। इनके उपन्यासों में केवल सामयिक समाज और राष्ट्र का साहित्यिक इतिहास ही नहीं है बल्कि जिस प्रकार के पाठकों के लिए उन्होंने अपने आदर्श उपस्थित किये हैं, उनके मानसिक विकास के अनुसार मानवी मनस्तत्व भी है।

राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त की भाँति प्रेमचन्द्र जी राष्ट्रीय उपन्यासकार थे। राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ समाज का जहाँ तक संबंध है, वहीं तक उन्होंने समाज को अपनाया है। 'गोदान' इसका अपवाद है, जिसमें सामाजिक प्रश्न को सामाजिक रूप में ही दिखलाया है। प्रेमचन्द्र जी से

भिन्न शरदचन्द्र सर्वथा सामाजिक उपन्यासकार थे, यद्यपि अपवाद स्वरूप 'पथेदावा' में वे भी राष्ट्रीय कलाकार के रूप में प्रकट हुए। अपनी कहानियों और उपन्यासों में शरदचन्द्र ने जिन सामाजिक प्रसंगों का निर्देश किया है, राष्ट्रीय प्रश्न से उनका राजनैतिक लगाव नहीं। राष्ट्र के स्वतन्त्र या परतन्त्र किसी भी युग में वे प्रसंग ज्यों के त्यों रहेंगे। राष्ट्रय प्रश्नों का संबंध यदि शासकों की राजनीति से है तो शरदचन्द्र के सामाजिक प्रश्नों का संबंध व्यक्तियों की 'रीति-नीति और अनुभूति से। शरद बाबू उसी रीति-नीति को सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए सहृदयता और सहानूभतिपूर्ण उनका एक विशेष दृष्टिकोण है। वही दृष्टिकोण उनकी छोटी सी छोटी कहानी से लेकर बड़े से बड़े उपन्यास में प्रकट हुआ है। प्रेमचन्द्र का आदर्श व्यक्त है; शरदचन्द्र का आदर्श अव्यक्त। प्रेमचन्द का आदर्श पंचनद की तरह उद्घोष करता है तो शरदचन्द्र का आदर्श अन्तः सलिला की तरह भीतर ही भीतर सूक्ष्म संवेदन को जाग्रत करता है। प्रेमचन्द्र जी के आदर्श में जनमत का व्यक्तित्व है, शरदचन्द्र के आदेश में प्रतिमतित्व।

(८)

आदर्श को यदि हम संकुचित अर्थ में ग्रहण करेंगे अथवा उसे जप-तप, पूजा-पाठ जाति धर्म तक ही केन्द्रित करेंगे, तो यह हमारी ही भूल होगी। प्रेम, सहानुभूति, करुणा, ममता ये भी आदर्श के प्रतीक हैं; ये किसी जाति धर्म और देश तक ही सीमित नहीं। आदर्श तो मनुष्यता की तरह विस्तृत आत्मा की तरह व्यापक है। देश काल के विभेद से आदर्श नव-नव रूप धारण करता है। उस चिर नवागन्तुक पथिक के लिए यथार्थ 'गाइड' का काम करता है। वह समाज की ऊँची-नीची गलियों से घूमता हुआ आदर्श को उसके उज्ज्वल सिंहासन तक पहुँचा देता है। यथार्थ के बिना आदर्श गति-रहित है। आदर्श के बिना यथार्थ जीवन-रहित। आदर्श यदि राज पुरुष

है तो यथार्थ उसका राज मन्त्री। यह राज मन्त्री ही राज पुरुष को मानवता के संरक्षण के लिए मन्त्रणा देता है। यथार्थ चाहे तो अपने राजा के साथ विश्वासघात कर सकता है। जब वह विश्वासघात कर सकता है तभी जन-रव क्षुब्ध हो उठता है। यों वह अपने स्थान पर सार्थक है।

१८—युद्ध और नारी

महादेवी वर्मा

[महादेवी का जन्म फर्रुखाबाद में सन् १९०९ में हुआ। १९३३ में एम० ए० पास कर के प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल नियुक्त हुईं। हिन्दी के चोटी के कवियों में आपका स्थान प्रमुख है। कवि और चित्रकार के साथ ही साथ आप सफल गद्य लेखक भी हैं। हिन्दी साहित्यिकों की सहायता के लिए साहित्यकार संसद नाम की एक संस्था की स्थापना की है।

महादेवी जी का गद्य अत्यन्त परिष्कृत और परिमार्जित है। आप मधुरता और शब्द चयन का विशेष ध्यान रखती हैं। इनके जैसा शुद्ध और सरस गद्य दूसरे लेखक कम ही लिख पाये हैं।

'अतीत के चल चित्र' और 'स्मृति की रेखायें' नामक गद्य रचनाओं के अतिरिक्त 'शृंखला की कड़ियां' और 'छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद' नामक रचनाएं भी हैं।

'युद्ध और नारी' आपके युक्तिपूर्ण तर्कों वाली एक सुन्दर रचना है, जिसमें युद्ध जन्य परिस्थिति में नारी के स्थान की मार्मिक व्याख्या की गई है।]

बर्बरता की पहली सीढ़ी से सभ्यता की अंतिम सीढ़ी तक युद्ध मनुष्य-जाति का साथ देता आया है। मनुष्य ने अपनी संकीर्ण व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना का पहला अभिनन्दन भी इसी से किया और लोकगत परार्थ-भावना की अंतिम आराधना भी इसी से करने जा रहा है। समय के आगे बढ़ने के साथ ही उसकी पत्थर की भारी तलवार, लकड़ी, लोहे और इस्पात की

बनते-बनते अब पहले से सहस्र गुण अधिक भयानक अस्त्र में परिणत हो गई; दूर के शत्रु को बेधनेवाले कम तीक्ष्ण बाण मशीनगन के पूर्वज बन बैठे। इतने युगों में मानव जाति ने केवल अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से अपने को सजाना, ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में बसना, अनेक प्रकार के अप्राकृतिक सुस्वादु व्यंजनों से शरीर को पालना, जाति, वर्ण, देश, राष्ट्र आदि दीवारें खड़ी करके रहना, अनेक नियम-उपनियमों से शासित होना और शासन करना ही नहीं सीखा, वरन् उसने अपने मार्ग में बाधा पहुँचाने वाले व्यक्तिकी प्रत्येक साँस को विषाक्त कर देने वाले अनेक उपाय भी खोज निकाले हैं। आज के विज्ञान ने उसकी प्रत्येक संहारक कल्पना को पार्थिव रूप दे दिया, प्रत्येक उठनेवाली इच्छा को धरती से बांध दिया और प्रत्येक निष्ठुर प्रयत्न को साकार सिद्धि में परिवर्तित कर दिया। परिणाम वही हुआ, जो होना था।

आज प्रत्येक राष्ट्र हिंसक जन्तु की तरह अपनी सद्यःजात पहली इच्छा की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र की जीवन भर की 'संचित संस्कृति' को निगल लेने को तुला बैठा है। जब हम स्वार्थ के उस हुंकार को संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रतिध्वनित होते सुनते हैं, तब मन में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि इन भिन्न देश और जातियों की ,दुधमुंहे बालकों को अंचल की छाया में छिपाये और बड़ों को वात्सल्य से आर्द्र करती हुई माताएँ ,तथा आनेवाली आपत्ति की आहट सुनकर मुरझाई हुई स्नेहमयी पत्नियाँ क्या सोच रही हैं।

युद्ध स्त्रियों की मनोवृत्ति के अनुकूल है या नहीं और यदि नहीं है तो पुरुषों ने उससे सहयोग पाने के लिए क्या-क्या प्रयत्न किये, ये प्रश्न सामयिक लगने पर भी जीवन के समान ही पुराने हैं।

पुरुष का जीवन संघर्ष से आरम्भ होता है और स्त्री का आत्म समर्पण से। जीवन के कठोर संघर्ष में जो पुरुष विजयी प्रमाणित हुआ, उसे स्त्री ने कमल हाथों से जयमाल देकर, स्निग्ध चितवन से अभिनन्दित

करके और स्नेह-प्रवण आत्म-निवेदन से अपने निकट पराजित बना डाला।

पुरुष की शक्ति और दुर्बलता उस आदिम नारी से नहीं छिपी रही होगी जिसने पुरुष की बर्बरता को पराभूत कर उसकी सुप्त भावना को जगाया। इन पवित्र गृहों की नींव स्त्री की बुद्धि पर रखी गई है, पुरुष की शक्ति पर नहीं। अपनी सहज बुद्धि के कारण ही स्त्री ने पुरुष के साथ अपना संघर्ष नहीं होन दिया। यदि होने दिया होता, तो आज मानव-जाति की दूसरी ही कहानी होती। शारीरिक बल के अतिरिक्त, उन दोनों के स्वभाव में भी भिन्नता थी। पुरुष के यदि ऐसे वृक्ष की उपमा दी जाय, जो अपने चारों ओर के छोटे-छोटे पौधों का जीवन रस चूस-चूस कर आकाश की ओर बढ़ता जाता है, तो स्त्री को ऐसी लता कहना होगा, जो पृथ्वी से बहुत थोड़ा-सा स्थान लेकर, अपनी सघनता में बहुत से अंकुरों की पनपती हुई उस वृक्ष की विशालता को चारों ओर से ढ़ँक लेती है। वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं को काटकर भी हम उसे एकाकी जीवित रख सकते हैं, परन्तु लता की, असंख्य उलझी-उलझी उपशाखाएँ नष्ट हो जाना ही उसकी मृत्यु है।

स्त्री और पुरुष के इसी स्वभाव-जनित भेद ने उन्हें एक-दूसरे के निकट परिचय प्राप्त करने योग्य बना दिया। स्त्री का जो आत्म-निवेदन पुरुष को पराभूत करने के लिए हुआ था, वह सन्तान के आगमन से और भी दृढ़ हो गया। उसने देखा कि उसे एक सबल पुरुष पर शासन ही नहीं करना है, वरन् अनेक निर्बलों को भी उसके समान सबल बनाना है। उसके इस कर्तव्य-बोध के साथ ही गृह की नींव पड़ी। जब उसने अपने शिशु को सामने रखकर कहा कि इसे तुम्हारे समान बनाने के लिए मुझे निरन्तर धूप-शीत से बचाने वाली छाया, नियमित रूप से मिलने वाला भोजन और नियत रूप से शत्रु आदि से रक्षा करनेवाले प्रहरी के रूप में तुम्हारी आवश्यकता है, तब पुरुष पत्तों की कुटी बनाकर, आखेट द्वारा भोजन का प्रबन्ध करके

अपनी सारी शक्ति से उस नये संसार की रक्षा करने में प्रवृत्त हुआ। पहले जिन शत्रुओं से वह निर्भीकतापूर्वक उलझ पड़ता था, अब उनके सहयोग की आवश्यकता का अनुभव करने लगा। संघर्ष में जो सबल व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता था, वही अब सुकुमार संगिनी और कोमल शिशु को लेकर दुर्बल हो उठा क्योंकि उसके प्रतिद्वंद्वी उसे हानि पहुँचाने में असफल होकर उसके गृह-सौन्दर्य को नष्ट कर सकते थे। सबलने अपने गृह की रक्षा और रक्षितों के सुख के लिए निर्बलों का सहयोग स्वीकार किया और निर्बलों ने अपने और अपने गृह दोनों के लिए। इस प्रकार हिंसक पशु के समान युद्धपरायण मानव-जाति अपने सुख की परिधि को धीरे-धीरे बढ़ाने लगी। युद्धों का सर्वथा अन्त तो नहीं हुआ, परन्तु अब व्यक्ति अपने गृह की रक्षा के लिए तत्पर हुआ और जाति एक विशेष गृह-समूह की रक्षा के लिए मरने मारने लगी। फिर भी स्त्री में कभी वह रक्त लोलुपता नहीं देखी गई, जिसके कारण युद्ध केवल युद्ध के लिए भी होते रहे।

वास्तव में वह पुरुष के दृष्टिकोण से युद्ध को देख ही नहीं सकती। कुछ स्वभाव के कारण और कुछ बाहर के संघर्ष में रहने के कारण पुरुष गृह में उतना अनुरक्त नहीं रह सका जितनी स्त्री हो गई थी। उसके लिए गृह का उजड़ जाना एक सुख के साधन का बिगड़ जाना हो सकता है, परन्तु स्त्री के लिए वही जीवन का उजड़ जाना है। उसने अपने आप को उसमें इतना तन्मय कर दिया था कि उसका घर उसके लिए जीवन से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं रह गया। युद्ध गृह के लिए प्रलय है; इसीलिये संभवतः वह उससे विमुख रही है। युद्ध के लिए वीरों को जाना देखकर पुरुष सोचेगा, देश का कितना गुरु महत्व इनके सम्मुख है और स्त्री सोचेगी, कितने आर्तनाद से पूर्ण घर इनके पीछे हैं। एक कहेगा—यह जा रहे हैं, क्योंकि इनका देश है; दूसरी कहेगी—यह जा रहे हैं, पर इनके स्नेहमयी पत्नी और बालक हैं।

स्त्री केवल शारीरिक और मानशिक दृष्टि से ही युद्ध के अनुपयुक्त

नहीं रही, वरन् युद्ध उसके विकास में भी बाधक रहा है। जिसे कल की आशा नहीं, जिसके नेत्रों में मृत्यु की छाया नाच रही है, उस सैनिक के निकट स्त्री केवल स्त्री है। उसके त्याग, तपस्या, साधना, प्रेम आदि गुणों का वह क्या करेगा! इन गुणों का विकास तो साहचर्य में ही संभव है। सबेरे तलवार के घाट उतरने और उतारने वाला वीर स्त्री की रूप-मदिरा का केवल एक घूँट चाह सकता है। वह उसके दिव्य गुणों का मूल्य आँकने का समय कहाँ पावे और यदि पा भी सके, तो उन्हें कितने क्षण पास रख सकेगा! इसी से प्रायः युद्धकाल में स्त्री संपूर्ण स्त्री कभी नहीं बन सकी। कुरुक्षेत्र की रुधिर-स्नाता द्रौपदी न महिमामयी जननी रूपमें हमारे सम्मुख आई और न गौरवान्वित पत्नी के रूपमें प्रकट हुई। वैभव की अन्य सामग्रियों के समान वह शत्रु-भयसे भागने फिरनेवाले पांडव भाइयों में बांटी गई और युद्ध का निमित्त मात्र बनकर जीवित रहने के लिए बाध्य की गई। वास्तव में स्त्री के गुणों का चरम विकास समाज के शान्तिमय वातावरण में ही है, चाहे समय के अनुसार हम इसे न मानने पर बाध्य हों।

स्त्री के स्वभाव और गृह के आकर्षण ने पुरुष को युद्ध से कुछ विरत अवश्य किया, परन्तु इस प्रवृत्ति को पूर्णतः दबा देना संभव नहीं था। बाहर का संघर्ष भी समाप्त नहीं हो सकता था। समय ने केवल स्वार्थ को विस्तृत कर दिया, फलतः व्यक्ति, जाति, देश या राष्ट्र-विशेष के स्वार्थ से अपने स्वार्थ को सम्बद्ध कर परार्थ-सिद्धि का अभिनय-सा करने लगा। सुख के साधनों के साथ पिपासा भी बढ़ी, स्वत्व की भावना के साथ अपने अधिकार को विस्तृत करने की कामना भी विस्तार पाने लगी। आज भौतिक युग के इस वातावरण में मनुष्य बर्बर-युग के क्रूर पुरुष से अधिक भयानक हो उठा है। बाहर संघर्ष है, कर्मक्षेत्र इतना रुक्ष है कि पुरुष स्त्री और गृह को जीवन की आवश्यकताओं में एक समझता है, परन्तु उसे यह सह्य नहीं कि स्त्री उसकी अधिकार-लिप्सा में बाधक बने। उसकी इच्छा

की सीमा नहीं, इसी से युद्ध-संख्या की भी सीमा नहीं तथा अन्याय और अत्याचार की भी सीमा नहीं। यदि स्त्री पग-पग पर अपने आँसुओं से उसका मार्ग गीला करती चले, तो यह पुरुष के साहस का उपहास होगा। यदि वह पल-पल में कर्तव्य-अकर्तव्य सुझाया करे, तो यह उसकी बुद्धि को चुनौती होगी और यदि वह उसका साहचर्य छोड़ दे, तो यह उसके जीवन की रुक्षता के लिए दुर्वह होगा।

अन्त में पुरुष ने इस बाधा को दूर करने के लिए जो सहज उपाय ढूंढ निकाला,उसने सभी दुश्चिन्ताओंसे इसे मुक्तकर दिया। उसने एक नये आविष्कार के समान स्त्री के सम्मुख यह तक रखा कि तुम्हारी युद्ध-विमुखता के मूल में दुर्बलता है। तुममें शक्ति नहीं, इसी से यह कोरी भावुकता प्रश्रय पाती है। तुम्हारा आत्म निवेदन तुम्हारी ही रक्षणीयता प्रकट करता है, अतः यह लज्जा का कारण है, गर्व का नहीं।

अपने स्वभाव की यह नवीन व्याख्या सुनकर मानों नारी ने अपने आपको एक नये दर्पण में देखा, जिसने उसे कुत्सित और दुर्बल प्रमाणित कर दिया। उसका रोम-रोम विधाता से प्रतिशोध लेने के लिए जल उठा। उसने पुरुष के निकट पुरुष का ही दूसरा रूप बन जाने की प्रतिज्ञा की। वे अस्त्र, जो निष्ठुर संहार के कारण उसे त्याज्य जान पड़ते थे, उसके आभूषण हो गए। युगों से मानवता की पाठशाला में सीखा हुआ पाठ वह क्षण में भूल गई और पुरुष ने अपने मार्ग को प्रशस्त किया। आज के पुरुष ने स्त्री पर जो विजय पाई है, वह मानव जाति के लिए चाहे उपयोगी न हो, परन्तु उसके संकीर्ण स्वार्थ के लिए आवश्यक है।

पुरुष स्त्रियों की ऐसी सेना बना रहा है, जो समय पर उसके शिथिल हाथ से अस्त्र लेकर रक्तपात न बन्द होने देगी, सहानुभूति को गर्व के भारी पत्थर से दबाकर मनुष्यता का चीत्कार सुनेगी और स्नेह को वैभव का बन्दी बनाकर अपने आपको कृतकार्य समझेगी। सुदूर भविष्य के गर्भ में क्या

है, यह तो अभी कह सकना संभव नहीं, परन्तु आज की निस्तब्धता में किसी आँधी की ही सूचना छिपी हो तो आश्चर्य नहीं ।

इसी युग में नारी ने ऐसा वेश बनाया है, यह कहना इतिहास की उपेक्षा करना होगा । अनेक बार उसने आपत्ति काल में अस्त्र धारण कर स्रष्टा का पद छोड़कर संहारक का कार्य किया है, परन्तु भेद इतना ही है कि प्राय: वह क्षणिक आवेश बुद्धिजन्य न होकर आशंकाजन्य था । उसमें और इसमें इतना ही अन्तर है जितना प्रयत्न और सिद्धि में । पहले का भाव संस्कार नहीं बन सका था, केवल एक अधिक सुन्दर सत्य की रक्षा के लिए उसने असत्य का परिहार स्वीकार किया था । आधुनिक युद्धप्रिय राष्ट्रों की नारियों में यह संस्कार जन्म पा रहा है कि करुणा, दया, स्नेह आदि स्वभाव -जात गुणों के संहार के लिए यदि पुरुष जैसा पाशविक बल उनमें न आ सके तो उनकी जाति जीने योग्य नहीं । इसीसे वह मातृ-जाति अन्य सन्तानों का गला काटने के लिए अपनी तलवार में धार देने बैठी है ।

१६—पुराण और संस्कृति

'अज्ञेय'

[पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। जन्म १९११ में गोरखपुर जिले में हुआ। रहने वाले पंजाब के हैं। जब एम० ए० में पढ़ रहे थे क्रान्तिकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में गिरफ्तार हो कर डेढ़ बरस जेल काटी। बहु धन्धी व्यक्तित्व और बहुमुखी प्रतिभा। घुमक्कड़ी से ले कर फौजी नौकरी तक कर चुके हैं। कविता, कहानी, चित्रकला, गम्भीर दार्शनिक रचनाएँ, कोषकार, मूर्त्ति बनाना, सभी काम आपने किए हैं। इन दिनों दिल्ली में से 'प्रतीक' नामक मासिक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं। 'शेखर' नामक उपन्यास के सिवा कई कहानी और कविता संग्रह छपे हैं। 'त्रिशंकु' साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। अंग्रेजी में भी लिखते हैं।

'अज्ञेय' हिन्दी के गिने-चुने शैलीकारों में से हैं। आपकी भाषा बड़ी ही प्रांजल और परिष्कृत होती है। हर शब्द अपनी जगह 'फिट' बैठता है। वाक्य-विन्यास काफी सुलझा हुआ और सिलसिलेवार होता है। कभी-कभी अंगरेजी ढंग आ जाता है, जो निबन्धों में अधिक स्पष्ट दीखता है। 'अज्ञेय' हिन्दी में प्रतीकवाद के समर्थक हैं।

'पुराण और संस्कृति' में आपने हमारे पुराणों की ओर पठित समाज में जो उपेक्षा पाई जाती है उसकी ओर इंगित किया है।]

संसार के विभिन्न देशों की भांति हमारे देश में भी जब-जब देश के शान्त अथवा परम्पराबद्ध सांस्कृतिक वातावरण में किसी के प्रवेश के

के कारण हल-चल उत्पन्न हुई है, तब-तब देश के जीवन में एक नई सांस्कृतिक जागृति देखने में आई है। एक विशेष सीमा तक यह स्थापित अथवा प्रचलित सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली जागृति थी—क्योंकि बहुधा बाहरी शक्ति एक अधिक बलवान् किन्तु कम विकसित संस्कृति के रूप में ही आती थी, जिसे आक्रमण करनेवाली जाति अपनी नई शक्ति अथवा विजय के दर्पोन्माद में बल-पूर्वक विजित जाति पर आरोपित करना चाहती थी। प्रागैतिहासिक काल में अनेक बार ऐसा हुआ होगा, ऐतिहासिक काल में भी इसके उदाहरण ढूंढ़ते देर न लगेगी। मध्ययुग तक में पश्चिमोत्तर दिशा से आक्रमण की जो अनेक लहरें आई, उनके साथही, सदा ही एक अपेक्षाकृत कम विकसित और सांस्कृतिक जीवन परिपाटी भारत में प्रविष्ट हुई; और कभी-कभी तो आक्रमण-कारियों में उनकी दुर्दम जीवन शक्ति के अतिरिक्त सांस्कृतिक पूंजी के नाम पर कुछ भी न रहा।

किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस सांस्कृतिक नवचेतन का कारण सदा यह आत्म-रक्षामूलक प्रयत्न नहीं रहता रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि यह नवचेतन केवल अपनी ही संस्कृति की ओर उन्मुख नहीं रहा; बल्कि दोनों पक्षों ने बड़े परिश्रम के साथ परम्पर विचारों और जीवन परिपाटियों का अध्ययन किया, और उससे भरपूर लाभ उठाया। हम क्षण भर विचार करें कि अकबर के दरबार के मुसलमान विद्वानों में से कितने हिन्दू रीति-नीति, आचार, धर्म, शास्त्र और पुराण के परिज्ञाता थे, और फिर देखें कि आज के कितने मुसलमान विद्वान् आधुनिक हिन्दू परिवृत्ति का उतना गहरा ज्ञान रखते हैं, तो हम आश्चर्य-चकित रह जाएँगे। कोई कह सकता है कि कम संस्कृत जाति का अधिक संस्कृत जाति के विचारों का अध्ययन करना स्वाभाविक ही है; क्योंकि इसके द्वारा वह उसकी विशालतर सांस्कृतिक निधि तक पहुँच सकती है, किन्तु एक तो बाहर से आनेवाली सब जातियों का 'सांस्कृतिक धरातल एक

नहीं था, और यह कहना ठीक नहीं होगा कि जो नीचे थे उन्होंने अधिक ग्रहण किया और जो अधिक संस्कृत थे उन्होंने कम; दूसरे वैसे भी यह युक्ति कितनी अपूर्ण है, इसका प्रमाण भारत की अंग्रेजों की पैठ के समय का अध्ययन करने से मिल सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उस समय भारत यूरोप की अपेक्षा कम संस्कृत था। किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेज अथवा फ्रांसीसी भी न केवल असभ्य नहीं थे, बल्कि सभ्यता और संस्कृति के कई उत्कर्ष देख चुके थे, और उस समय भी सांस्कृतिक दृष्टि से हीन युग में से नहीं गुजर रह थे। इतना होने पर भी उन्होंने भारतीय जीवन और विचार परिपाटियों के प्रति जो उत्सुकता और ग्रहणशीलता दिखाई, वह उस उदारता और विवेकपूर्ण अध्ययनशीलता से किसी तरह कम नहीं थी, जो उन्होंने बदले में भारतीयों से पाई। निस्संदेह विदेशियों में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं थी जिनके लिए सब कुछ—यहाँ तक कि अध्ययन और ज्ञानोपार्जन भी साम्राज्य अथवा अन्य प्रकार की स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र था; और भारतीयों में भी बहुतों के लिए विदेशी रहन-सहन और संस्कृति का परिचय एक स्थूल महत्वाकांक्षा अथवाएक प्रकार की snobbary का परिणाम था जो किसी भी संस्कृत के अत्यधिक विकास के बाद उतार के युग में अभिजात-वर्ग में प्रकट होती है। पर हम ऐसे लोगों की बात नहीं करते। मेक्समूलर को साम्राज्य-वृद्धि का निमित्त मानना उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना बंगाल के ठाकुर (टैगोर) बंश के बारे में यह कहना कि उनका अध्ययन विदेशियों की दृष्टि में ऊँचा उठने की इच्छा का परिणाम था।

तब इस नवचेतन का कारण क्या रहा? वास्तविक कारण यही रहा है कि पहले सम्पर्क अथवा संघर्ष के युग में दोनों पक्षों के परस्पर सम्बन्ध को नियमित करनेवाली कोई रूढ़ियाँ नहीं रहीं, और इसलिए जहाँ-जहाँ यह सम्पर्क हुआ घनिष्टता के साथ हुआ। हमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बीरबल, टोडरमल और खानखाना का पारस्परिक सम्बन्ध आज

के पढ़े-लिखे हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्ध से कहीं अधिक घनिष्ट होता होगा, इसलिए नहीं कि वे एक ही बादशाह के दरबारी थे, वरन् इसलिए कि उनके व्यवहार को सीमित करनेवाली जातीय, सामाजिक अथवा कथित धार्मिक रूढ़ियाँ अभी कड़ी नहीं हो पाई थीं, और शायद बनी भी नहीं थीं। उनका व्यवहार कौतूहल पर आश्रित था, (भले ही उसकी आड़ में विरोध भी रहा हो) आज का व्यवहार मूलतः अनेक प्रकार के निषेधों पर आश्रित है (जब कि विरोध-भावना किसी तरह भी कम नहीं हुई है।)

सन् १८६४ में सूर की हिन्दू देवमाला के संशोधित संस्करण की भूमिका में उसके सम्पादक रेवरेन्ड सिम्पसन ने लिखा था, 'भारत में यूरोपियनों का जीवन अब अधिकारगत, औचित्यानौचित्य विचार के रूढ़ियों में बँध गया है। अंग्रेजी पारिवारिक जीवन की रीतियाँ भारत में ले आई गई हैं, और उसके साथ-साथ एक पार्थक्य और दूरत्व की भावना भी आ गई है। हम अब शासक हो गये हैं, और सहचर नहीं रहे। कम्पनी के समय के लेन-देन, षड्यन्त्र और मार-काट के दिनों में यूरोपियन देशी स्वभाव को जितना निकट से देखते और जानते थे, उतना निकट से अब नहीं समझते। ब्राह्मण सेनापतियों के अधीन बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ घुल-मिल जानेवाला यूरोपियन 'लेफ्टिनेंट' अथवा देशी राजाओं के दरबारों की देहरी पर बाट जोहनेवाला नौसिखिया कूटनीतिज्ञ, देसी स्वभाव, रीति-रस्म, और आचार-विचार का अन्तरंग देख सकता था, क्योंकि वह उसकी दृष्टि के आगे निःसंकोच खुला रहता था।' आवश्यक परिवर्तन के साथ यह कथन आज भारत के देशी और विदेशी सभी समाजों के पारस्परिक जीवन पर लागू होता है, क्योंकि आज सभी समाजों की पीठ पर रूढ़ि का भारी बोझ है।

ऐसी परिस्थिति में यह विशेष आवश्यक हो जाता है कि देश के विभिन्न अंगों को अलग-अलग लीकों में पड़कर विच्छिन्न हो जाने से बचाने

के लिए प्रयत्न किया जाय। सदियों के साथ रहनेवाले समाज क्रमशः एक दूसरे से इतना परे हट जाँय कि जब एक दूसरे की ओर देखें तब उनकी आँखों में सख्य का आलोक न हो, जिज्ञासा अथवा कौतूहल का आकर्षण भी न हो—केवल घनीभूत अपरिचय और उपेक्षा एक पत्थर की दीवार की तरह बीच में खड़ी हो जाय—यह किसी भी देश के लिए स्वयं एक भारी ट्रेजेडी है; और जब हम अन्य देशों के उदाहरण से देखते हैं, कि यह मौलिक ट्रेजेडी असंख्य महासंकटों की जननी है, तब ऐसे उद्योगों की तात्कालिक आवश्यकता समझ में आ जाती है। बहुत सम्भव है कि ऐसे उद्योग भी सन्देह और आशंका की दृष्टि से देखे जाएँ, किन्तु यह खतरा अपेक्षा में बहुत छोटा है।

[२]

किसी देश के सांस्कृतिक जीवन में देव गाथाओं अथवा पुराण गाथाओं का क्या स्थान होता है या होना चाहिए इस बारे में बहुत मतभेद हो सकता है और है। पिछली सदी से धार्मिक सुधारवाद की जो लहर चली उसके कारण बहुत-से लोग पुराणों को एक गर्हित वस्तु समझने लगे, और अब भी हिन्दुओं में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अपने बच्चों को पुराणों की छाया से उसी तरह बचाकर रखना चाहते हैं—जैसे किसी छूत के रोगी से! यहाँ तक कि रामायण और महाभारत भी वर्जित और अश्लील साहित्य की श्रेणी में रख दिये जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे घरों में भी ग्रीक अथवा रोमन पुराण गाथाएँ वर्जित नहीं समझी जातीं, वेदव्यास के अश्लील समझा जाने पर भी होमर पढ़ लिया जाता है—यद्यपि, जैसा कि मैक्समू-लर ने कहा है होमर का काव्य जिन अतिविकसित अथवा जर्जरित पुराण गाथाओं पर आश्रित है उन्हीं का शुद्ध मूलस्वरूप वैदिक गाथाओं में मिलता है। वैदिक गाथाओं में आर्यों के उस सांस्कृतिक प्राग्जीवन का चित्र मिलता

है जिसका विकृत रूप हमारे पुराणों में अथवा आर्यों की अन्य शाखाओं के पुराणों में पाया जाता है ।

इस धार्मिक सुधारवाद को छोड़ भी दें, तो भी हम देखते हैं कि शिक्षित व्यक्तियों में प्रायः पुराणों के सम्बन्ध में एक अश्रद्धा और जुगुप्सा का भाव आ गया है। मानो वे उस पृष्ठभूमि के लिए लज्जित हैं, जिस पर उनका जीवन पनपा और विकसित हुआ है। यह दृष्टिकोण मेरी समझ में न केवल अवांछनीय है, बल्कि अहितकर भी है। इसलिए नहीं कि मैं पुराणों को धर्म का अंग मानता हूँ, बल्कि इसलिए कि बिना पुराणों के अध्ययन के किसी भी देशके जीवनकी सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुँचा जा सकता,और इसलिये उस जीवन के प्रति अपना दायित्व भी नहीं निभाया जा सकता। ग्रीक दार्शनिकों ने ग्रीक पुराणों का नया मूल्यांकन किया था तो वे प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों की नैतिक, भौतिक अथवा ऐतिहासिक व्याख्या करने लगे थे। उन्होंने देखा था कि पुराणों द्वारा प्राचीनकाल के मनीषियों ने अन्धकारावृत जनता को रूपकों और संकेतों के सहारे शिक्षित करके एक सामाजिक सूत्र में बाँधने का प्रारम्भिक प्रयत्न किया था। यह भी उन्होंने समझा था कि पुराणों के चरित्र बहुधा प्राकृतिक क्रियाओं के काव्यमय मानवीकृत प्रतिचित्र थे, और पञ्चतत्वों ने भी देवरूप ग्रहण कर लिया था। यह भी वे देख सके थे कि कुछ देवता केवल महान् योद्धाओं, राजाओं अथवा ऋषियों के अतिमानवी रूप हैं। इन सभी अवधारणाओं में सत्य का अंश है,और साथ ही जहाँ ये पुराण के धार्मिक महत्व को अस्वीकार करते हैं, वहाँ यह भी सिद्ध करते हैं कि परम सत्य की उपलब्धि के लिए किये गये इन प्रारम्भिक प्रयासों के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। ग्रीक युग का अनेकेश्वरवाद लुप्त हो गया है, परन्तु ग्रीक पुराण की देन को यूरोप का प्रत्येक साहित्यिक आज भी कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता है।

आज के भारतीयों को तो उपर्युक्त दृष्टिकोण का औचित्य और भी आसानी से स्वीकार कर सकना चाहिए, क्योंकि आज वे पुरातत्व, नृतत्व,

समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान के नये आविष्कारों से भी लाभ उठा सकते हैं। उन्हें तो आसानी से यह समझ सकना चाहिए कि किसी भी देश के जीवन के गहनतम रहस्य तक पहुँचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही सबसे अच्छी कुञ्जी है, कि उसी में समष्टिगत आदर्शों और जातिगत आकांक्षाओं में वे स्वप्नचित्र मिल सकते हैं, जिनका कि विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि, दीक्षा, योग्यता और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।

२०—भक्ति-भावना और सूरदास

पं० मुंशीराम शर्मा

[आपका जन्म ३० नवंबर सन् १९०१ में जिला आगरा के अन्तर्गत ओखरा ग्राम में एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ । सन् १९२६ में एम० ए० उत्तीर्ण करके आप दयानन्द कालेज कानपुर में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए । और तभी से वहाँ हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में आप कार्यारूढ़ हैं । आपने कई ग्रन्थों की रचना की है जिनमें आर्य धर्म, 'श्री गणेश गीतांजलि', 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात', 'सूर-सौरभ', 'पद्मावत का भाष्य', 'कबीर रचनामृत', 'महाभारत और श्रीकृष्ण, प्रमुख हैं । अभी हाल में आपने "भारतीय साधना और सूर साहित्य' शीर्षक मौलिक अन्वेषणात्मक प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय ने 'डाक्टरेट' प्रदान की है ।

भक्तिपरक वेदमन्त्रों का गीतानुवाद आपने 'भक्ति तरंगिणी' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है । वैदिक साहित्य के प्रति आपकी विशेष आस्था एवं रुचि है । आपकी शैली आपके व्यक्तित्व की भाँति ही सरल एवं प्रसाद गुण संपन्न है ।

शर्मा जी के जीवन में व्याप्त सरलता एवं भावुकता का साक्षात्कार उनकी रचनाशैली में प्रायः सर्वत्र होता है । भावपूर्ण स्थलों में तो कवि की-सी भावुकता एवं तन्मयता परिलक्षित होती है । गंभीरता पूर्ण स्थलों पर संस्कृत गर्भित पदावली का प्रयोग विषय की गुरुता को और भी अधिक महत्व प्रदान कर देता है । किन्तु ऐसा नहीं है

कि पाठक के समक्ष मूल भाव दुरूहता के आवरण में ढँक जाय। विचारों की विशदता एवं स्पष्टता भी लेखक का अपना वैयक्तिक गुण है जिसका परिचय आपकी रचनाशैली में प्राप्त होता है।

सैद्धांतिक विषयों में आपकी शैली विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक हो जाती है। भाषा के विचार से यद्यपि आपकी शैली संस्कृतनिष्ठ रहती है किन्तु भाव विशदता की दृष्टि से आपने अन्य भाषाओं के सामान्य प्रचलित शब्दों को भी स्थान दिया है।]

सभी सन्त अनुभव करते रहे हैं कि चराचर जगत का एकमात्र आश्रय वह महाप्रभु है, जो परात्पर होता हुआ भी निकटतम रूप से हम सब के अन्दर रमण कर रहा है। दृश्यमान पदार्थ सब के सब परिवर्तनशील पुतले हैं; विशिष्ट परमाणुओं के विशिष्ट समुदाय हैं; जिनकी स्थिति कुछ काल तक रहती है, उसके पश्चात् परमाणु बिखर जाते हैं और एक नवीन समुदाय को जन्म देते हैं। जो भवन अभी मेरे सामने खड़ा है, वह कुछ वर्ष पूर्व नहीं था और थोड़े या अधिक समय के उपरान्त इस अवस्था में नहीं रहेगा। खेतों के स्थान पर निकेत और निकेतों के स्थान पर खेत बनते ही आये हैं। यह शरीर जिसे मैं ५० वर्षों से उपयोग में लाता रहा हूँ, इसके पूर्व इस रूप में नहीं था और कुछ वर्षों के पश्चात् जल कर भस्म हो जायगा। जो सरितायें इस धराधाम पर सुदूर प्राचीन काल में प्रवाहित हो रही थीं, उनमें से कुछ तो सूख गईं और कुछ ने अपने प्रवाह-मार्ग को परिवर्तित कर लिया है। कालान्तर में उनकी वर्तमान अवस्था भी नहीं रहेगी। पर्वत जो अचल कहलाते हैं, एक रस दशा में नहीं रह पाते। वे भी सतत् परिवर्तनशील हैं। भूगर्भ शास्त्र के विद्वानों की सम्मति में जहाँ इस समय हिमालय पर्वत है, वहाँ एक दिन समुद्र हिलोरें ले रहा था। कई पर्वत आज भी समुद्र के गर्भ में डूबे हुए हैं। और हमारी यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा तारकावलि? ये सब भी एक दिन नहीं रहेंगे। शेष केवल

वही परमसत्ता रहेगी, जो अन्य समस्त सत्ताओं का प्राण, जीवन एवं आधार है।

सन्तों ने इसी कारण इस परात्पर किन्तु निकट से निकट सत्ता का अवलम्बन लिया और उसकी निरन्तर स्थिति के अनुभव का अभ्यास किया। परमप्रभु मेरे समीप सदैव विद्यमान हैं। उनकी महान सत्ता के सम्मुख मैं एक महान् क्षुद्र कण हूँ। उनकी सर्वशक्तिमत्ता की तुलना में मेरी शक्ति कितनी अल्प है। उनकी सर्वज्ञता और मेरी अल्पज्ञता! फिर, जो कुछ गुण-सम्पत्ति मेरे पास है भी, वह उन्हीं की तो दी हुई है। ओह! मेरे प्रभु कितने उदार हैं! उन्होंने मुझे क्या क्या नहीं दिया? और अब भी क्या उनका दान-द्वार बन्द है? नहीं, मैं जब जो इच्छा करता हूँ और उसे लेकर उनके चरणों में उपस्थित होता हूँ, उसे वे पूर्ण कर ही देते है। उनका यह समग्र संसार भी तो मेरे विकास एवं उत्कर्ष में सहायक ही बन रहा है। फिर किस मुख से मैं अपने प्रभु से पराङ्मुखता धारण करूँ? कुछ ऐसी ही अनुभूतियाँ सन्तों के मानस में आविर्भूत होती रहती हैं और वे परिणामतः सर्वात्मना अपने आपको उसकी सेवा में लगा देते हैं।

भक्ति में सब से पहले सेवा की भावना ही जागृत होती है। परमात्मा मेरा प्रभु है, स्वामी है, इष्टदेव है; मैं उसका सेवक हूँ, दास हूँ, अनुचर हूँ मेरे पास जो कुछ है, उसी का दिया हुआ है और उसका सब से अच्छा उपयोग भी यही है कि उसे प्रभु की सेवा में ही लगा दिया जाय। इस भावना से भावित हो सेवक स्वामी की सेवा में अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो उसके प्रभु को रुचिकर न हो। प्रभु की रुचि उसकी अपनी रुचि बन जाती है। स्वामी की अनुकूलता सम्पादन करने के लिए यही मार्ग सर्वोत्तम है। दास्य भक्ति इसी हेतु भक्ति की भूमिका में सर्वप्रथम स्थान पाती है। प्रभु की समीपता का अनुभव वे मुझे प्रत्येक स्थान और प्रत्येक समय में देख रहे हैं—इस भाव का पद-पद पर ध्यान, कहीं मैं उनके प्रतिकूल आचरण

न कर बैठूं, इसका सतत् जागरूक बन कर आलोचन करना भक्त को ऐसी अवस्था में ले जाता है जिसमें वह अपने प्रभु की प्रसन्नता सम्पादित कर सके।

प्रभु की सेवा का सातत्य भक्त को प्रभु के परिवार का एक अंग बना देता है। भक्त भगवान् के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। प्रभु मेरे हैं, मेरे पिता हैं, विधाता हैं, माता हैं, बंधु हैं। मैं उनका पुत्र हूँ, पोष्य हूँ, अनुज हूँ, आत्मज हूँ। ऐसे सम्बन्ध की अनुभूति भक्त को प्रभु के और भी अधिक समीप खींच लाती है। दास्य-भक्ति की दूरी इस प्रकार के सम्बन्ध के अनुभव में दूर हो जाती है। दाम्पत्य-भावना में यह दूरी और भी अधिक दूर होती है। शृंगार, मधुर अथवा उज्ज्वल रस भक्ति-क्षेत्र में इसी कारण अधिक अपनाया भी गया है। महात्मा सूरदास ने इसके साथ वात्सल्य रस का वर्णन प्रभूत मात्रा में किया है। उन्होंने जन्य-जनक सम्बन्ध को उलट कर प्रभु को पुत्र-रूप में अनुभव करने की भी हमें शक्ति प्रदान की है।

भक्ति-क्षेत्र की अन्तिम मंजिल सख्य-भाव में समवासित होती है। जीव उस ईश्वर का शाश्वत सखा है। उसकी लीला में भाग लेने वाला एक अद्भुत खिलाड़ी है, जिसके अन्दर न दास का दूरत्व है, न पुत्र का संकोच है और न पत्नी का अधीन भाव है। वह स्वाधीन है, समस्त मर्यादाओं से ऊपर है और अनादि काल से उस वरेण्य वरुण का सखा है, पवमान प्रभु का साथी है। जैसा वह है, वैसा यह। दोनों एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न—कैसे कहा जाय? कुछ अनिर्वचनीय जैसी दशा है। साधारण साधक की तो वहाँ पहुँच ही नहीं हो सकती। सूर जैसे पहुँचे हुए भक्त ही उसे कुछ-कुछ अनुभव कर सकते और समझा सकते हैं।

आइये, सूर के चरणो में बैठकर उनके द्वारा बताई हुई भक्ति को हृदयङ्गम करने का कुछ प्रयत्न करें।

सूर की कृतियों का अध्येता इस तथ्य से भली भाँति परिचित है, कि महात्मा सूरदास आचार्य बल्लभ से ब्रह्म-संबंध होने के पूर्व प्रभु-भक्ति

के भजन बना कर गाया करते थे। वे स्वयं साधु थे और अन्य व्यक्तियों को भी सन्यास की दीक्षा देकर साधु बनाया करते थे। इस समय जो शब्द या गीत उनके मुख से उच्चरित होते थे, वे प्रायः दास्य-भक्ति संबंधी थे। इन गीतों या पदों में सूर के हृदय की व्याकुलता अभिव्यक्त हुई है, जो आचार्य वल्लभ जैसे सिद्ध योगी के सम्पर्क से दूर हुई और महात्मा सूरदास हरि-लीला-गायन करके सख्य-भक्ति के धनी बन सके।

जैसा ऊपर लिख चुके हैं, दास्य-भक्ति में लेखक को अपने स्वामी का सदैव स्मरण रखना चाहिए, उसकी उपस्थिति को पग-पग पर अनुभव करना चाहिए। महात्मा सूरदास हरि-स्मरण को किसी भी अवस्था में विस्मृत नहीं करते। वे इसके प्रभाव से परिचित हैं और इसके अभाव में जो कष्ट-क्लेश भोगने पड़ते हैं, उनका भी उन्हें सम्यक् ज्ञान है। हरि-स्मरण में नाम का जाप अतीव लाभकारी है। नाम के साथ प्रभु के गुणों का कीर्तन, कथाओं का श्रवण (मूर्ति पूजा के पाद सेवन, अर्चन और वन्दन भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं)और मन को वासनाओं से हटा कर निरन्तर प्रभु की ओर उन्मुख करना—ऐसे उपादान हैं जो भक्त को प्रभु-सेवा का धनी बना देते हैं। महात्मा सूरदास ने अनेक पदों में नाम-जाप के महत्व को प्रगट किया है। आचार्य बल्लभ की भेंट से पूर्व उन्होंने जो गीति-सुमन, पद-पुष्प प्रभु के चरणों में समर्पित किए हैं उनमें तो प्रभु की विविध नामावलि का एकत्व व्यक्त हुआ ही है, उसके पश्चात् भी उन्होंने जो हरि-लीला का गायन किया, उसमें भी श्रीकृष्ण के साथ कम से कम राम-नाम को तो वे विस्मृत कर ही नहीं सके। हाँ, प्रधानता वहाँ कृष्ण भगवान् की ही है।

नाम-जाप की प्रधानता इसी से सिद्ध है कि सूर सागर के प्रायः सभी स्कंधों के आदि, अन्त या मध्य में "हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ", "हरि चरनारविन्द उर धरौ" जैसी पंक्तियाँ अनिवार्य रूप से आती हैं। "बड़ी है राम-नाम की ओट", "भरोसौ नाम कौ भारी", "है हरिनाम

को आधार", "अब तुम नाम गहो मन नागर" आदि टेकों से प्रारंभ होने वाले अनेक पद नाम-जाप की महत्ता प्रगट करते हैं।

भगवान के स्मरण में उनके गुणों का कीर्तन तथा चरितावगाहन अनायास हो जाते हैं। महात्मा सूरदास लिखते हैं—

"जो घट अन्तर हरि सुमिरै।
ताको काल रूठि का करिहै, जो चित चरन धरै।।
कोपै तात प्रहलाद भगत कौं, नामहिं लेत जरै।
खंभ फारि नरसिंह प्रगट ह्वै, असुर के प्रान हरै।।
सहस बरस गजयुद्ध करत भये, छिन एक ध्यान धरै।
चक्र धरे बैकुण्ठ ते धाये, वाकी पैंज सरै।।"

जो प्रभु का स्मरण करता है, हरि-चरणों में चित्त लगाता है, मृत्यु उसके पास भी नहीं फटक सकती। प्रभु भक्तों को अभय करने वाले हैं, उन्हें अमरत्व प्रदान करते हैं—यह उनके गुणों का प्रकाश है। प्रह्लाद, गज का उद्धार, अजामिल आदि की कथायें प्रकारान्तर से भगवान् के चरितों का ही स्मरण कराती हैं।

प्रभु और माया—इन दोनों के बीच जीव की स्थिति है। उसे इन दों में से एक समय किसी न किसी के सम्पर्क का अनुभव करना ही पड़ता है। यदि प्रभु की ओर नहीं झुक सका, तो माया की ओर अवश्यमेव आकर्षित होगा। जिधर झुकेगा, उधर ही प्रवृत्त होकर तज्जन्य सुख एवं दुख का अनुभव करेगा। माया का आकर्षण प्रभु से पृथक करने वाला है। प्रभु आनन्द के भंडार हैं, यह तथ्य जीव को माया के अन्दर लिप्त होकर और परिणामतः क्लेशों को भोगकर याद आता है। साधक इसे अनुभव कर चुका होता है। सूरदास नीचे लिखे पद में इसी अनुभूति को प्रगट करते हैं—

रह्यौ मन सुमिरन कौ पछितायौ।
यह तन रांचि करि विरच्यौ कियौ आपनों भायौ।।
मन कृत दोष अथाह तरंगिनि, तरि नहिं सक्यौ, समायौ।
मेल्यौ जाल काल जब खेंच्यौ, भयौ मीन जल-हायौ।।
कीर पढ़ावत गनिका तारी, व्याध परम पद पायौ।
ऐसौ सूर नाहिं कोऊ दूजौ, दूरि करै जम-दायौ।।

प्रभु को विस्मृत करके मन वासनाओं के जाल में ग्रसित होता है जिससे निकलना उसके लिए अत्यन्त कठिन है। जैसे मछली जल से पृथक होकर काल-कवलित होती है, वैसे ही जीवात्मा प्रभु से वियुक्त होकर जन्म-मरण के कराल पाशों में बद्ध होता है। यमराज की भयंकर दंष्ट्राओं से बचा लेना और आनन्द की ओर उन्मुख कर देना केवल सच्चिदानंद प्रभु की करुणा का ही कार्य है, अन्य किसी का नहीं।

श्रुति भगवती कितने सुन्दर शब्दों में इस तथ्य की ओर निर्देश करती हैं :—

"अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।।"

साधक निकट रहती हुई माया को छोड़ नहीं पाता और निकट विराजमान ब्रह्म को देख नहीं पाता। इसीलिए तो वह कष्ट पाता है। यदि वह प्रकाशमान प्रभु के काव्य को पढ़ सके, देख सके—अनुभव कर सके, तो जन्म-मरण के चक्र से दूर हो सकता है।

वस्तुतः माया के बंधन अत्यन्त जटिल हैं। साधक प्रयत्न कर के भी जब इनसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाता, तो बड़ा दुखी होता है। बंधन में पड़ने का अभ्यास उसे एक ओर खींचता है और क्लेशों का अनुभव वहाँ से हटने के लिए प्रेरित करता है। एक ओर से वैराग्य और दूसरी ओर प्रवृत्ति पराकाष्ठा का अभ्यास चाहते हैं। साधक अभ्यास करता है—

कहता है, अब की बार इस क्लेश से मुक्त हो गया, तो इस मार्ग पर पुनः पैर नहीं रखूंगा। पर, होता कुछ और ही है। महात्मा सूरदास के शब्दों में,—

'कहत हे आगें जपिहैं राम।
बीचहिं भई और की औरै, परचौ काल सों काम॥"

भक्त रामनाम के जाप की प्रतिज्ञा करता है, पर, माया आकर उसे बीच में ही दबोच लेती है, बेचारा साधक फिर उसके हाथ अपने को बिका हुआ सा अनुभव करने लगता है। साधना-पथ में बलवान् सिद्ध होते हैं और साधक को ईश्वरोन्मुख नहीं होने देते। सूर विनय पदावली में पाठकों को इस भाव से संबंध रखने वाले कई पद मिलेंगे।

भक्त जहाँ प्रभु के गुणों का चिन्तन करता है, वहाँ उसकी दृष्टि अपने दोषों पर भी तीव्रता के साथ जाती है। दास्य भक्ति में सेवक को अपने दोषों का परिमार्जन करना ही पड़ता है, अन्यथा वह प्रभु की सेवा के योग्य बन ही नहीं सकता। अपने दोषों का दर्शन परिमार्जन की प्रथम क्रिया है। जिसे अपने दोष ही दिखाई न देंगे, वह उनका परिमार्जन ही क्या करेगा? स्वदोष-दृष्टि प्रभु की गुण-महत्ता के अनुशीलन में स्वयमेव जागृत हो जाती है। सूरदास लिखते हैं:—

''माधौ जू, मोतें और न पापी।
घातक, कुटिल, चबाई, कपटी, महाकूर, संतापी॥"

अथवा

"कौन गति करिहौ मेरी नाथ।
हौं तौ कुटिल, कुचील, कुदरसन, रहत विषय के साथ॥
दिन बीतत माया के लाचच, कुल कुटुम्ब के हेत।
सिगरी रैन नींद भरि सोवत, जैसे पसू अचेत॥

परम पुनीत पवित्र, कृपानिधि, पावन नाम कहायौ।
सूर पतित जब सुन्यौ विरद यह, तब धीरज मन आयौ॥"

प्रभु उदार हैं, पतित-पावन हैं, कृपा के कोष हैं, परम पवित्र हैं और मैं? मैं तो घातक, क्रूर, कपटी, विषयी, पतित, अत्यन्त अपावन—भला, प्रभु मुझे किस प्रकार अपनावेंगे, मेरी सेवा कैसे स्वीकार करेंगे? पवित्र के पास रहने के लिए, उसका अनुचर और सेवक बनने के लिए, मुझे स्वयं पवित्र बनना चाहिए। बस, यहीं से स्वदोष-दृष्टि और फिर दोष-परिशोधन प्रारम्भ हो जाते हैं और सेवक प्रभु की सेवा में निरत होकर, तदनुकूल आचरण करता हुआ अपने को इस योग्य बना लेता है कि वह प्रभु को अपना कह सके। प्रभु की करुणा भी सेवक को ऊपर उठाती है, पवित्र बनाती है, उसे अपनाती है, इस बात को सूर ने अपने अनेक पदों में प्रगट किया है। जैसे—

'हरि सौ ठाकुर और न जन कौ।'
'जाकों मनमोहन अंग करै।'

अब भक्त प्रभु का हो गया। सूर के ही शब्दों में—'हम भक्तन के भक्त हमारे। सुन अरजुन परितिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥' जो भक्त प्रभु को अपना समझता है और प्रभु ने भी जिसे स्वीकार कर लिया है, वह जहाँ रहेगा, निर्भय होकर रहेगा। सूर लिखते हैं:—

"जाकों हरि अंगीकार कियौ।
ताके कोटि बिघन हरि हरिकै, अभै प्रताप दियौ॥"

अथवा

जाकों दीनानाथ निवाजें।
भव-सागर में कबहुँ न झूकै अभय निसाने बाजें॥

भगवान् भक्त वत्सल हैं, शरणागत त्राता हैं, प्रपन्न के योग-क्षेम को सँभालने वाले हैं। उनका बाना, उनका स्वभाव ही भक्तों पर वत्सल भाव

रखना है—यह भावना साधक को बड़ा बल देती है और उसे उत्साहपूर्वक साधना-पथ पर अग्रसर करती है। भक्त प्रभु को अपना गुरु, भाई, माता तथा पिता समझने लगता है। वेद के शब्दों में—'त्वमस्माकं तवस्मसि' प्रभु तू मेरे हैं और मैं तेरा हूँ। यह सम्बन्ध-भावना सभी भक्तों ने अनुभव की है। सूरदास की अनुभुति है—'अपने कों को न आदर देइ।' ऐसा कौन है, जो अपने का आदर नहीं करता। बालक चाहे जितने अपराध करे, पर माता के लिए तो वह उसका बालक ही है, जो उसके अंग-अंग से उत्पन्न हुआ है। प्रभु भी माता के समान ही अपने भक्त पर वात्सल्य दृष्टि रखते हैं। जीव है भी ब्रह्म का एक अंश और वह भी सनातन। अंशी अपने अंश को कैसे विस्मृत कर सकता है? वह तो उसे अपनाने के लिए आगे बढ़ेगा ही। अंश भी अपने अंशी को, जब याद आवेगो, अपना ही समझेगा और उसमें मिल जाने के लिए लालायित हो उठेगा। सर ने लिखा है—

"जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई बिनती सुन प्रभु मेरे।"

इन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति सूरदास जी के उन पदों में है जो पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने से पहले लिखे गए। दाम्पत्य-भावना अथवा मधुर रस जिसमें प्रभु की पति रूप में उपासना है और वात्सल्य रस जिसमें प्रभु की पुत्र रूप में आराधना की गई है, विशेष रूप से हरिलीला-गायन के पदों से सम्बन्धित हैं। पूर्व लिखित विनय के पदों में इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

अन्तिम अवस्था प्रभु के सखा भाव की है। इस भाव के पद विनय के अन्तर्गत भी आ गए हैं और हरिलीला के तो वे सर्वस्व हैं ही। विनय संबंधी सूर के नीचे लिखे पद सख्यभक्ति पर विशद प्रकाश डालते हैं:—

मोहि प्रभु तुमसों होड़ परी।
ना जानों करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी॥

अथवा

आज हौं एक एक करि टरि हों।
कै हमही कै तुम हो माधव अपुन भरोसे लरिहों।।

साधना में यह सर्वोच्च कोटि की भावस्थिति है। श्रुति के शब्दों में:—

'पवमानस्य ते वयं पवित्रं अभ्युन्दितः।
सखित्वं आ वृणीमहे।।'

पवमान, परम पावन प्रभु भक्त के पवित्र हुए अन्तःकरण को जब भक्ति रस से आर्द्र कर देते हैं, तो भक्त प्रभु के सखा भाव को वरण कर लेता है। जो हृदय विकारों से विहीन, प्रपंच से पृथक और रागद्वेष से रहित हो चुका है, वही सत रूप प्रभु के निवास का निकेतन बन सकता है। एसे ही मानस में चिति की लहरें उठ सकती हैं और ऐसा ही आत्मा आनन्द का अनुभव कर सकता है। इसी उच्च भूमिका में पहुँच कर जीवात्मा प्रभु के सखा-भाव को प्राप्त होता है।

टिप्पणी

एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

पर्यंक—पलंग, सोफा। मुग्धमणि—मूर्ख शिरोमणि। तर्क-वाचस्पति—तर्क करने में वृहस्पति। प्राणान्तक—प्राण घातक। शशा—खरगोश। कालक्षेप—समय बिताना। तामिस्त्र मकरालय—अन्धकार रूपी मकर का घर अर्थात् अन्धकार का समुद्र। अविद्या वरुणालय—अज्ञान का समुद्र।

परचित्तानुरंजन

परचित्तानुरंजन—दूसरे के मन के अनुसार कार्य करना। मूर्खश्छन्दानुवृत्तेन—मूर्ख को उसकी मनोवृत्ति के अनुसार कार्य कर के वश में किया जाता है। आजुर्दा—उदास या दुखी। दाँत किट्टन—दाँत पीसना। फलं न किञ्चित् अशुभा समाप्तिः—लाभ कुछ नहीं मिलता परन्तु अन्त बुरा होता है। विद्याह. . .विद्यामूषरे वपेत—विद्या ब्राह्मण के पास आ कर बोली 'मैं तुम्हारी हूँ, मेरा पालन करो। देखो, अयोग्य और अभिमानी छात्र को मत विद्यादान करना। मैं तुम्हारा कल्याण करने वाली हूँ, मेरी रक्षा करो। विद्याको अपने साथ ले कर मर जाना अच्छा है, परन्तु ऊषर में (अयोग्य पात्र में) विद्या को मत बोना। बदनाब्ज निःसृत—मुखरूपी कमल से निकली हुई। अरुन्तुद—हृदय विदारक। अतीव. . .नरकागतस्य—अत्यन्त क्रोध करना और कड़वी बोली बोलना नरक से लौटे हुए पापी मनुष्य का लक्षण है। परच्छन्दानुवर्तन—दूसरे की मनोवृत्ति के अनुसार काम करना। अवकाश—अवलम्ब, सहारा। ऊष्मा—ताप। ऐबजोई—दोष ढूंढ़। खसलत—प्रकृति, स्वभाव। रसांजन—रसमय आँजन। स्तवक—गुच्छा। नैसर्गिकी. . .अवताडनानि—सुगन्धित फूलों

की यह प्रकृति-सिद्ध अवस्था है कि वे सब के मस्तक पर ही चढ़ते हैं, पैरों से कुचले नहीं जाते। अलापचारी—बातें बनाना।

पंच परमेश्वर

पंचगव्य—गाय के दूध, दही, घी, गोबर और मूत्र से बना हुआ एक पेय जो पाप नाशक माना जाता है। नीति-विदांवर—नीतिज्ञों में श्रेष्ठ। अनेकांश—अधिकतर। आलम—लोक। खल्क—संसार। पंचभूतमय—पाँच तत्वों से युक्त। संसर्ग—लगाव, सम्बन्ध। श्रमी—परिश्रमी। उन्नतग्रीव—शिर ऊँचा उठाये हुए। अवगत—ज्ञात। मीन मेख—सन्देह। सकल सद्‌गुणालंकृत—सब अच्छे गुणों से सुशोभित। एकाकी—अकेला। साम—शान्ति, समझाना बुझाना। पंच-वक्त्र—पाँच मुंह वाले।

न्याय-घंटा

राजतरंगिणी—कविर काश्मीरी पंडित विल्हण का बनाया हुआ एक ऐतिहासिक ग्रन्थ। सिंहद्वार—प्रधान द्वार। सत्त्व—चरित्र-शक्ति। निस्तार—छुटकारा या मुक्ति। तुजुक जहाँगीरी—जहाँगीर की लिखी आत्मकथा।

कवि-शिक्षा

शतक—सदी। बहुश्रुत—बहुत सी जनश्रुतियों का ज्ञाता या बहुत विद्याओं का ज्ञाता। दिव्य—ईश्वर की आराधना से प्राप्त। पौरुषेय—किसी पुरुष (गुरु) से पढ़ कर प्राप्त की हुई शक्ति। कृच्छ्र—कठिनाई, विशेष प्रयत्न। वैयाकरण—व्याकरण ज्ञाता। गाथा—अपभ्रंश। तन्मनस्क—तन्मय। प्रकर्ष—अधिकता। तार्किक—तर्क करने वाले। न तस्य... नार्कमन्धः—अनेक प्रयत्नपूर्वक, विशेष प्रकार कीशिक्षा (ट्रेनिंग) से भी अरसिकों में वक्तृत्व (काव्य-शक्ति) उत्पन्न नहीं होती। भली भाँति पढ़ाने पर भी गदहा गाता नहीं है और न तो दिखलाने पर भी अन्धा सूर्य को देख पाता है। वृत्त-पूरण—तुक बन्दी। श्लाघा—प्रशंसा। व्युत्पत्ति—विशिष्ट ज्ञान। पिंगल—छन्द। पारायण—दुहराना। काव्यांग-विवेचक—काव्य के विभिंग अंगों (रस, अलंकार आदि) की व्याख्या करने वाले। पंचक—

घनिष्ठा और शतभिषा, से रेवती नक्षत्र तक का भोग काल। आत्मज्ञान—वेदान्त।

शिव शंभु का चिट्ठा

अनिर्वचनीय—अवर्णनीय। मनोवांछा—मनोरथ। तुम-तराक—बड़ी प्रतिष्ठा। तख्ते-ताऊस—मयूर सिंहासन। कयाम—स्थिति। मौरूसी—पैतृक। स्मृति मन्दिर—मेमोरियल, स्मारक।

भय

साक्षात्कार—प्रत्यक्ष दर्शन। स्तंभकारक—कुछ देर तक कर्त्तव्य ज्ञान से शून्य करने वाला। भीरु—डरपोक। आवेग-शुन्य—मनो व्यापार से रहित। वासना—संस्कार। विधियाँ—ढंग। एकाशाही—एक तन्त्र। प्रसार—फैलाव, वृद्धि। चलते फिरते कंकाल—भुक्खड़ जनता। प्रतिष्ठित हो गये हैं—स्थान पा गए हैं, घुस गये हैं। अर्थ-संघर्ष—धन कमाने की होड़। प्रक्रिया—व्यापार, प्रकार। सार्वभौम—व्यापक। वणिग्वृत्ति—व्यापार-भावना। क्षात्र-धर्म—दुर्बल की रक्षा की भावना। प्रतिष्ठा—स्थापना। मुक्तातंक—आतंक से मुक्त, भय से मुक्ति पाना। चक्र व्यूह—भूल भुलैया। प्रयत्न साध्य—उपाय से सिद्ध होने योग्य।

जीवन में साहित्य का स्थान

वीभत्स—घृणा उत्पन्न करने वाला। पराकाष्ठा—अंतिम सीमा। वासना-प्रधान—कुत्सित मनोवृत्ति को जगाने वाला। समावेश—प्रतिष्ठा विह्वलता—आत्म विभोर होना। सामंजस्य—एकता। जातक-कथा—बुद्ध के विभिन्न जन्मों की कथा। उद्गार—वेगवान विचार। हारमनी—समतानता या समरसता। सार्वभौमिक—अन्तर्राष्ट्रीय, सार्वदेशिक। अधिकृत—शासनारूढ़, अधिकार जमाये। प्रगति—विकास। कातिल—हत्यारा। मनुष्य—मानवता। भंगुर—नष्ट होने योग्य। स्पन्दित—गतिशील, गतिमान्। कमाल—आश्चर्य। स्रष्टा—निर्माता। उत्सर्ग—हित-त्याग। कृतकार्य—धन्य, सफल। खुदाई फौजदार—ईश्वर का भेजा हुआ सेनापति। दायित्व—जिम्मेदारी। चित्त की साधना—मन

को निर्विकार बनाने का यत्न। परिमार्जन—शुद्ध करना, शुद्धीकरण।

उपन्यासों के अध्ययन से हानि लाभ

वृत्त—सीमा, घेरा, विस्तार। केन्द्रस्थ—केन्द्रित, मध्य में प्रतिष्ठित। अबाधित—बे रोक टोक के। आवर्तन—चक्कर, बार बार एक ही वस्तु का आना। अन्तर्द्वन्द्व—मानसिक उलझन। प्रतिद्वन्द्विता—होड़। अनुकरणात्मक—नकल करने की। काल-यापन—समय काटना। विद्युतालोक—बिजली की रोशनी, एकाहारी—एक समय भोजन पाने वाला। भौतिक-गुफा—बाह्य-जीवन। तादात्म्य—एकता या एक भाव स्थापित करना। आचार-पद्धति—रहन सहन की परम्परा। उद्घाटन—रहस्य बताना, भेद खोलना। परिहार—दूर करना। निरापद—आपत्ति रहित, सुरक्षित। उच्छृंखल—नियम या शिष्टता की परवाह न करने वाले। आपद् धर्म—आपत्ति काल का का काम चलाऊ धर्म। संतुलन—समभाव, समन्वय।

साहित्य देवता

कल्पना की जीभ को लिखने दो—कल्पना को लिपिवद्ध करने दो। कलम की जीभ को बोल लेने दो—लेखनी द्वारा भाव व्यक्त करने दो। चातुर्य का अर्द्ध विराम—चतुराई दिखाने का लघु प्रयास। अल्हड़ता का अभिराम—प्रेम की अधिकता का सौन्दर्य, प्रेम में सुधि खो जाने की सुन्दरता। मुग्ध-संस्कार हो—लुभा लेने वाले संस्कार रूप हो। वाणी के सरोवर—वांङ्मय। अन्तरात्मा के निवासी—मन में बसने वाला। रजत के बोझ और तपन से खाली—धन मद से रहित। वेदनाओं के विकास के संग्रहालय—मनोभावों को स्पन्दित करने की शक्ति रखने वाले। ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ ध्येय का माखन चोर—शब्द के सहारे व्यक्त होने वाले ध्येय रूपी कृष्ण, क्या . . . नहीं आ रहा है—क्या तुममें अपना सौन्दर्य या शक्ति नहीं ढूंढ़ रहा है? मेरा घोड़ा—मेरी इन्द्रियाँ या साधन। विचार के जगत् में पाँचाली की लाज—तर्क या विज्ञान के बीच श्रद्धा का सम्मान। रात को तड़पा देने वाले—शान्ति को भंग करने वाले। नागाधिराज—

ऊँचे पर्वत। निम्नगा——नदी। स्याही के शृंगार——साहित्य की शोभा। देवल—— देवपूजक, पुजारी। धूल के नन्दन——पृथ्वी का पवित्र स्थान। शाखामृग——बन्दर। अन्तरतर की सरल तूलिका——हृदय की निगूढ़ भावना। वातायन——खिड़की, (ज्ञानेन्द्रियाँ)। पत्रक——चित्रपट।

साहित्य माधुरी

न ब्रह्म विद्या . . .कविता कवीनाम——जो अलौकिक लावण्य या माधुर्य कवियों की कविता में है वह अध्यात्म विद्या और राजलक्ष्मी में कहाँ ? मुकुलित——विकसित। कैशोर्य——किशोरावस्था। लक्ष्मी-लहरी——धन के उन्माद। कादम्बिनी——सुरा। मधु। साहित्य-माधुरी-मर्माहत——साहित्य के रसास्वादन से व्याकुल या मस्त। धीरे. . .वनमाली——यमुना तीर के मन्द पवन से आन्दोलित वन में वनमाली (कृष्ण) रहते हैं। आत्मा. . मंतव्य——आत्मा ही देखने, सुनने और मनन के योग्य है। खुदमस्त——आत्माराम। निर्लेप——अनासक्त। दलादली——दलबन्दी। विद्वच्चक्र-चूड़ामणि——विद्वानों के समाज के सिरमौर। मधुव्रत——भौंरे। एकान्त——अनन्य। मकरंद——पराग। श्रेय——कल्याण। आस्वादी——रस चखने वाले। चौका——चौकोनी शुद्ध लिपी पुती भूमि।

रामलीला

गच——पक्की सीमेन्ट की बनी छत या फर्श। चिरन्तन——सनातन। कल्प–बहत्तर चतुर्युगी का एक कल्प होता है। अन्तर्धान——गायब। सांत्वना——ढाढ़स।

प्राचीन और नवीन

जीवन धारा——प्राणी की सामूहिक चेतना। निपात——गिरना। आचार्य——संस्कृत की अन्तिम परीक्षा। विश्लेषण——छानबीन। वैचित्र्य——विभिन्नता, विशेषता। महत्——व्यापक, विशाल। असाधारणता——वैचित्र्य, विशेषता। उद्रेक——उत्पत्ति। अतिक्रमण——लाँघना, पार करना। चरम-परिणाम——अन्तिम विकास। पराभूत——पराजित। महीयान्——अति महान्। संशयावस्था——सन्देह की स्थिति। उद्घाटन——अनावरण, खोलना।

उग्र विलास---नग्न विलास। तारकासुर---एक राक्षस जिसको कार्तिकेय ने मारा था। नियति---दैव। अंक---गोद । प्रतिरुद्ध---रोका गया। अदृष्टवाद--- दैववाद, नियतिवाद। पराभव---पराजय। कलाप---समूह रूप---आकार । अनुभूति---अनुभव। उपजीव्य---आश्रित। बहिष्कार--- अनादर। विन्यास---सजावट, विशेष क्रमसे रखना। व्यवधान---रुकावट। संघर्षण---रगड़, संघर्ष। उद्दाम---तीव्र, उत्कट। सौन्दर्य वृत्ति---सौन्दर्य भावना। दृष्टिपात---अवलोकन । रस और तत्व---आनन्द और सत्य। कल्पना के विलास विभ्रम---कल्पना की उड़ान का चक्कर।

विक्रम संवत्सर का अभिनन्दन

संवत्सर---समय का एक कल्पित माप। विक्रम---पराक्रम और विक्रमाजीत। मेरु दण्ड---आधार। अतीत का मेरु दण्ड---जिसके सहारे अतीत का ज्ञान अवशिष्ट है। महाकाल---विराट् काल। प्रतीक---विशिष्ट संकेत। तन्द्रा---आलस्य। अक्ष---चक्र। द्युलोक---आकाश। प्रजापति--- प्रजा को उत्पन्न करने वाला। दक्ष प्रथम प्रजापति थे। आयुष्मान्---दीर्घ जीवी । समष्टि---समूह । अहोरात्र---रातदिन । प्रजनन---सृष्टि । प्रज्यस्त्व भाव---अत्यन्त महत का भाव। ऋद्धि---समृद्धि। ऊर्जित--- ओजस्वी। यजमान---यज्ञ कर्ता। विचंक्रमण---छलांग मारना । उपनिषद् ---उच्च ज्ञान । उत्संग---गोद। पाद-न्यास---पग । रस-तन्तु---रस-स्रोत । विपक्षी---शत्रु। अक्षय्या---क्षीण न होने योग्य। मर्त्य---मरण शील। अंशु---किरण। हिमाद्रि---हिमालय । कुभा---काबुल नदी। राजसूय---एक यज्ञ का नाम। नाराशंसी---ज्ञान की प्रशंसा करने वाले। सप्तक----सात वस्तुओं का समूह। इयत्ता---सीमा। महार्णव--महा-सागर। अन्तराल---अवकाश, मध्य की खाली जगह। प्रांशु---उन्नत। शाश्वत---अमर । पर्ण---पत्तो। दीक्षा---मन्त्रदान। पर्याय---क्रम--- बारी बारी से आना। स्वस्तिमती---कल्याण मयी।

नयी व्यवस्था

लोक-दक्ष---लोक चतुर। नैसर्गिक---प्राकृतिक। अन्तर्विभागीय---

अन्य विभागों से संबंध रखनेवाला। नियंता—नियन्त्रण रखनेवाला। संगत—युक्तियुक्त। तर-तमता—घट-बढ़, विषमता। मान्यता——स्वीकृति। अधिवास—निवास। तत्त्व-समिति—विचार करनेवाली समिति। बिन्दुओं—समस्याओं। व्यूह—विशेष रूप का संगठन। अवैध—कानून के विरुद्ध। असंगत—ठीक न बैठनेवाला। वर्तमान के के पुरुष—काल के साथ चलनेवाले व्यक्ति। प्रशस्त—चौड़ा। शीर्षस्थान—चोटी पर। मानव-मेधा—मानव-बुद्धि। विज्ञप्ति—सूचना,न्याय की प्रार्थना। व्यवहार-दल—व्यवहार ज्ञानियों का पक्ष। दिग्विभाजन—दिशाओं का बंटवारा। अवतारणा—आकृति बनाना, मूर्तरूप देना। मूर्धन्य—सर्वश्रेष्ठ।

हिन्दी का भक्ति साहित्य

युग-सन्धि—दो विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष काल। पौराणिक—पुराणों में वर्णित। साधना—उपासना प्रणाली। अहैतुक—निष्काम। काम्य—इष्ट। जागतिक—सांसारिक। अकुंठ चित्त—खुले हृदय। तारतम्य। समन्वय—प्रस्तार-विस्तार—लंबाई-चौड़ाई। अवज्ञा—अनादर। संगति—अन्विति, सन्तुलन। निर्वेद—विरक्ति। पारिभाषिक—विशेष अर्थ में प्रयुक्त। चिद्विषयक—चेतना संबंधी : विश्रामित—स्थान प्राप्त। कायेन—समर्पयत्तत्—शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, हृदय और स्वभाववश जिस कर्म को करता हूँ, वे सब पर नारायण को अर्पित हैं। वज्रयान—तन्त्र और हठयोग वाला बौद्ध संप्रदाय। अवधूत—नाथपन्थी साधु। शारीर—शरीर के। मुद्रा—छापा या तिलक। अव्यवहित—निकटतम, अध्येता—अध्ययन करनेवाले। मिलन-बिन्दु—सन्धि केन्द्र। आप्लावित—सराबोर। पारिपार्श्विक—अगल बगल की। विच्छिन्न—कटी हुई, मुक्त।

कला में जीवन की अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति—स्पष्टीकरण। सहृदय-संवेद्य—भावुक जनों से जानने योग्य। एक तारता—एक में संबद्ध भाव। हविस—लालसा।

नुमाइशी—दिखाऊ । उपलब्धि —प्राप्ति । निष्प्रभ—ओजरहित । कदर्थित—निन्दित, बुरी भावना से देखा गया । युग-प्रवर्तक—युगान्तर लाने वाले । चिर सहज—चिरकाल तक सरल । सूत्र-रूप में—संक्षिप्त रूपों में । समाधान—हल । आप्त—यथार्थवादी ऋषि । स्वतन्त्रचेता—स्वतन्त्र मन वाला । अभिप्रेत—इष्ट । शिव—शुभ, कल्याणकारी। कलित—मनोहर । विषकन्या—जिस कन्या के संसर्ग से मनुष्य मर जाता है । मंगल-प्राण—जिसका अन्तस् मंगलमय हो । मर्यादा—सीमा । सीमित-निबन्धता—सीमा में बंधा रहना । ऋजु कुंचित—सरल और वक्र । नटवर—श्रेष्ठ अभिनेता । अनन्त दुकूला—जिसके वस्त्र का अन्त न हो । परिच्छद—आवरण । माध्यम—अभिव्यक्ति का साधन। धर्म-पीड़ित—धर्म के कारण कष्ट पानेवाला । अपवाद—सामान्य नियम के विरुद्ध । प्रतिमतित्व—बुद्धि का प्रति-बिम्बित रूप।

युद्ध और नारी

अभिनन्दन—स्वागत । परार्थ-भावना—परोपकार भावना । पार्थिव—मूर्त, भौतिक । सिद्धि—फल प्राप्ति । सद्यःजात—तुरत की पैदा हुई । स्निग्ध—सरस । स्नेह-प्रवण—स्नेह से लबालब भरा । स्वभाव जनित—स्वभाव से उत्पन्न । आतम निवेदन—अपने भाव को किसी के सामने प्रकट करना। साहचर्य—साथ में रहना। रुधिर—स्नाता—रक्त से नहाई हुई। अभिनय-सा—दिखावटी कार्य के समान। लिप्सा—तीव्र इच्छा। दुर्वह—ढोने में कठिन। प्रश्रय—अवलंब। प्रतिशोध—बदला । निस्तब्धता—शान्ति ।

पुराण और संस्कृति

अपेक्षाकृत—आवश्यकतानुसार । परिपाटी—प्रणाली । परिज्ञाता—विशिष्ट ज्ञाता । परिवृत्ति—परिवार । उत्कर्ष—उन्नत स्थिति। अभिजात वर्ग—कुलीन वर्ग । नव चेतन—नया जागरण । निषेधों—बहिष्कार की भावना, बहिष्कार । अन्तरंग—भीतरी भाग । लीक—पथ । ट्रेजेडी—करुण घटना, करुण अन्त । गाथा—कहानी का पूर्वज ।

गर्हित---निन्द्य । वर्जित---निषिद्ध । प्राग्विभाजन---विभाजन के पहले का । जुगुप्सा---निन्दा, अनादर । भित्ति---आधार । अन्धकारावृत्त---अज्ञान में फंसी । मानवीकृत---मनुष्य का रूप दिया हुआ । अति मानवी---मानवता से ऊपर उठी हुई । अनेकेश्वरवाद---अनेक ईश्वर को माननेवाला सिद्धांत । नृतत्व---मानव के अध्ययन की सामग्री ।

भक्ति भावना और सूरदास

परात्पर---सबसे परे । रमण---विचरण । निकेत---घर, भवन । रस दशा---समभाव । परमसत्ता---आधारभूत तत्व । पराङ्मुखता ---उपेक्षा का भाव । आविर्भूत---प्रकट । भावित---रंगा हुआ । जागरूक---सजग । पोष्य---पला हुआ । प्रभूत---अधिक । समवासित---समान भाव में स्थित-- । वरेण्य---वरण के योग्य । वरुण---भगवान् का पर्यायवाची शब्द । पवमान---गतिशील । हृदयंगम---हृदय में बैठना । उन्मुख ---लगाना, उसी ओर ले जाना । पद---पुष्प---रसमयवचन रूपी फूल । स्कन्ध---अध्याय । चरितावगाहन---चरित्रवर्णन या श्रवण का रस लेना । प्रकारान्तर---दूसरे रूप में । पराकाष्ठा का अभ्यास---बहुत अधिक अभ्यास अनुशीलन---बार बार चिन्तन करना । स्वदोष-दृष्टि---अपने दोष को देखनेवाली दृष्टि । परिशोधन---दूर करना । अंग करैं---अपना बनाना । अंशी---ब्रह्म, जिसका जीव अंश है । भावस्थिति---भाव दशा । चिति---चेतना, ज्ञान, । उच्च भूमिका---उच्च भावदशा । प्रपन्न---शरणागत ।